चैतन्य की सुरभित पाखुरियाँ

– 'युगल'

चैतन्य की

सुरभित पांखुरियाँ

प्रवचनांश

बाबू 'युगल' जैन एम.ए., साहित्यरत्न
कोटा

संकलन व लेखन

ब्र. नीलिमा जैन
कोटा

प्रकाशक
आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन, कोटा
मो. 94141-81512

प्रथम संस्करण : 1100 प्रतियाँ
अध्यात्म मनीषी बाबू 'युगल' जी
जन्म शताब्दी समारोह पर आयोजित
आध्यात्मिक शिविर एवं विद्वत् संगोष्ठी
कोटा पर प्रकाशित (4,5,6 अप्रैल 2025)

मूल्य : स्वाध्याय

प्राप्ति स्थान :

♦ आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन
85, चैतन्य विहार, आर्य समाज की गली,
रामपुरा, कोटा (राज.) 324006
मो. 94141-81512 (चिन्मय जैन)

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर्स
82, पॉल्टी फार्म, आगरा रोड, जयपुर
मो. 9928517346

'सिद्धांत सौरभ'

-ब्र. नीलिमा जैन, कोटा

आर्ष संस्कृति स्वान्तः सुखायः स्वाश्रित सिद्धान्तों की सुदृढ़ नींव पर अचल मेरु समान अपने गौरव को लेकर खड़ी है, सच ही है सिद्धांत हमारी सनातन रीत से जुड़े होते हैं, इनकी सत्ता अटल, अखण्ड व अमिट एवं स्वतः सिद्ध होने से कुतर्थ व कुयुक्तियों के घन प्रहार भी इनका भेदन करने में असमर्थ हैं, और करने का यत्न तो अशक्य अनुष्ठानवत् ही है बल्कि श्रेष्ठनीति हो या मंत्र विद्या! लेकिन सत् सिद्धान्त के व्रजमयी किले को इनके घन प्रहार छू भी नहीं पायेंगे, ये युक्तियाँ नीतियाँ तो सदा से परास्त ही होती रही हैं।

अकाट्य सिद्धांत हमारे 'सारी ही सृष्टि अकृत है', 'आत्मा अकर्त्ता है', 'ज्ञान ज्ञेयों से निरपेक्ष सत् है', 'क्रमबद्ध वस्तु की व्यवस्था' आदि सहस्त्रों सिद्धान्तों, की काया ऐसी है - जैसे चन्द्रकिरणों के स्पर्शमात्र से चन्द्रकांत मणि द्रवित हो जाती है, वैसे ही सिद्ध मंत्रों की कोमलकाया का स्पर्श करते ही पाषाण-सा कठोर हृदय भी द्रवित होकर पिघलने लगता है एवं उसी क्षण अन्तःकरण स्पन्दित हो उठता है, मानों मृग को मधुर संगीत और प्यासे को शीतल कुण्ड मिला हो।

सचमुच इस स्वर्णयुग को ऐसे अनमोल सिद्धातों का दस्तावेज, पूज्य गुरुदेव से प्राप्त हुआ, अरे! उनके पूर्व समस्त सिद्धांत रुँध गये थे और उल्टी दिशा में चल रहे थे, उसी समय सिद्धांत सिंधु के पारगामी पूज्य गुरुदेव ने इन्हें पुनर्जन्म देकर 45 वर्ष तक भरपूर पोषण दिया है, उन्होंने अपनी बलकारी ज्ञान भुजाओं द्वारा इनका मंथन कर, माखन खींच-खींच कर निकाला, यह तो पूज्य गुरुदेव की ही ताकत है, वरना इस काल की कल्पना से तो कोसों दूर है। सच! माखन पाकर कलि पंचम निहाल हो गया।

जीवन पथ प्रदाता पूज्य गुरुदेव द्वारा प्राप्त, सिद्धांत विद्या को साधकर, कुशल साधक पू.बाबू युगलजी ने उन विद्यामंत्रों को अपने हृदय में ध्रुव रूप से धारण कर लिया, फलस्वरूप उनके चिंतन का चरखा अविराम गति से चलता रहा, उससे निकले सूत्र में सिद्धमंत्रों की मणि माला पिरोकर वे जैन जगत को यह बेशकीमती भेंट प्रदान करते रहें। चिंतन तो निरन्तर परिष्कृत होता चला गया और वह साहित्य की विविध विधाओं लेखन, वक्तृत्व, काव्य चर्चा परिचर्चा के रूप में साकार होता रहा। उनके प्रवचन में था एक अनूठा आकर्षण, जिसमें आर्ष सिद्धान्तों का बड़ी सजीवता, रोचकता व तर्कशुद्धि पूर्वक विवेचन - मानों मोहनी मंत्र सा उनकी

वाणी का सम्मोहन; जो श्रोताओं का वशीकरण कर उन्हें मंत्र मुग्ध कर देता था। सभा श्रोता भी अतल शून्य में पहुँच जाते थे तभी एक कोमल संबोधन पूज्य बाबूजी का होता था...

पेठो पेठो अतुल शून्य के तल में पेठो।
मदिर सुरभि बहती जहाँ, अगणित शक्ति सुमन की।।

सचमुच! उनकी वक्तृत्व कला किसी पैमाने से कम नहीं थी अद्वितीय थी, मृदुल इतनी कि मिश्री व दही के योग से बने श्रीखण्ड की भाँति सीधे मस्तिष्क से हृदय में उतरकर स्मृति पर उत्कीर्ण हो जाती थी। उनके इस निष्ठावान व्यक्तित्व में सिद्धान्त, अध्यात्म व चरण का सरस समायोजन दृष्टिगत हुआ है, जिसका प्रस्फुटन विशेष अवसरों पर होता रहा। प्रच्छन्न विषय भी उनकी वैचारिक तुला पर तुलकर झरने से बहने लगते थे, उन्ही के बहुरंगी चुनिंदा अंशों को मैंने हूबहू भावों के साथ संक्षेपण कर, उनकी मौलिक भाषा में वर्ण वाक्य, सुन्दर टाइटल, छाया में जिन्हें वे अध्यात्म की मस्ती में बोला करते थे।

जैसे 'जमुना के कंकर, सभी शिवशंकर' – 'ज्ञान तो नट नागर है' विकल्प और विचार में अन्तर, कच्चे घाट के समान है अज्ञानी के वचन, नौ हाथ का कलेजा चाहिए, द्रव्य तो मौनी बाबा है, मुमुक्षु सदन की चहल–पहल, इत्यादि शतक रहस्यमयी सिद्धांत के निचोड़ का यह रसीला सुरभित संग्रह – जिनके मध्य में चैतन्य चन्द्र चमक रहा है। अहो! कैसी है, सिद्ध मंत्र की महिमा – जैसे पारस का लघु कण, लोहे को स्वर्ण बना देता है, वैसे ही लघु सिद्धांत भी व्यक्ति की कलुषित वृत्ति को परिमार्जित कर, उसके गुण सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा देते हैं ओर सुनो! जीवन की विषम परिस्थिति में समाधान की सौरभ देने आते हैं। उलझे मानस को सम्यक् नीति द्वारा सुलझाने की शक्ति देने आते हैं।

'सुरभित पाखुरियाँ चैतन्य की' का यह पुष्पहार सिद्धांत साधक सिद्धवंशी पू.बाबू जी के शताब्दी समारोह के पुनीत प्रसंग पर पिपासुओं को समर्पित कर हृदय प्रमुदित है, इनकी काया छोटी है, किन्तु ऐरावत हाथी जैसी ताकत देने वाले हैं, जिन्हें पढ़कर आशाओं व अभिलाषाओं का त्वरित अंत होकर, अवश्य ही मुरझाई ज्ञानलता, अन्तर्बल से खिल उठेगी और सुख की धारा अंत रहित, अनंतता की दिशा में बहने लगेगी, इसलिए हे मानव! तू चलता चल! ओ मोक्षमार्ग पर बढ़ता चल, बढ़ता चल–भाई बढ़ता चल.....

5 अप्रैल 2025
'युगल' जन्म शताब्दी समारोह

मुमुक्षु का लक्षण

"ध्वनित तत्त्व ध्वनि से सदा, वह मुमुक्षु धरज्ञान,
मुक्ति-महल सो जानिये, बाकी सभी मसान।"

'युगल'

शतक

चिन्तन कणिका

(1)

'है' का मर्म स्पर्श

जीव भी 'है' अजीव भी 'है' जब ये दोनों हैं, तो पहले थे अब हैं और हैं तो रहेंगें और जीव स्वयं से ही जीव है और अजीव स्वयं से ही अजीव है, जीव का 'है' अजीव से नहीं और अजीव का 'है', जीव से नहीं, इस तरह दोनों की त्रैकालिक स्वतंत्रता निर्बाध है।

जैसे जमीन भी 'है' और आसमान भी 'है'। किन्तु जमीन आसमान से नहीं, और आसमान जमीन से नहीं, जमीन आसमान का कर्म नहीं और आसमान जमीन का कर्म नहीं – इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्ता-कर्म की सर्वथा असिद्धि है जिस समय निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा हो, उस समय भी कर्ता-कर्म भाव का सर्वथा अभाव है। 'है' का यही मार्मिक विश्लेषण है।

(2)

'अनेकांत एक अपराजित शस्त्र है'

अनेकांत जैनदर्शन का अस्खलित सिद्धान्त है, भगवान वीतरागी, सर्वज्ञ अरहंतदेव के अतिरिक्त और जितने भी विचारक व मन्तव्य हैं वे कल्पना तक नहीं कर पाये कि ''प्रत्येक वस्तु अनंत गुणात्मक व अनंत धर्मात्मक हो सकती है इसलिए अनेकांत को बदनामी भी बहुत सहनी पड़ी, लेकिन जिसका चरित्र उज्ज्वल होता है, उसे

कितना ही कलंकित किया जाये, उसके चरित्र की पवित्रता कभी किसी से प्रभावित नहीं होती, उसमें क्षति नहीं होती, वह सदा निर्दोष ही रहता है।

अनेकांत पर जिन दार्शनिकों ने प्रहार किये, वे उदय हुए और अस्त भी हो गये, लेकिन अनेकांत अनादि-अनंत अपने ध्रुव धरातल पर जिंदा खड़ा है, यह किसी काल व क्षेत्र में एकांतवादियों के भयावह गोलों से विचलित होने वाला नहीं है क्योंकि यह कोई किसी की कल्पना मात्र नहीं, बल्कि वस्तु की अकाट्य स्वयंसिद्ध व्यवस्था है।

अनेकांत के सम्यक् बोध के अभाव के कारण अज्ञान ने इस आत्मा को अनादिकाल से दबोचा, जिससे यह उसके बंधनपाश से मुक्त नहीं हो पाया, लेकिन जब सद्गुरु की करुण कृपा से अनेकांत का सही स्वरूप सुन लेता है और उसे आत्मसात् कर उस दिव्यवाणी को अपने ज्ञान में बिठा लेता है और धारावाहिक पुरुषार्थ द्वारा अनंत धर्मात्मक चैतन्य तत्त्व की अनुभूति कर लेता है तो अज्ञान समूलरूप से नष्ट हो जाता है।

सचमुच! अनेकांत का उपयोग हमारी मुक्ति व आत्मकल्याण के लिए ही करना चाहिए, इसका स्वरूप सम्यक् रीति से हमारे मस्तिष्क में समा जाए, परन्तु हुआ क्या? इसके स्वरूप को नहीं समझ पाने से इसे पूर्वापर विरोध के साथ मिला दिया गया, लेकिन यह सिद्धांत किसी से चुनौती नहीं पा सका, यह तो अपराजित शस्त्र है, जो कभी किसी से परास्त नहीं हुआ, न ही होगा, क्योंकि स्वयं वस्तु बोलती है, उसमें परस्पर पूर्वापर विरोध कहीं नहीं है, पूर्वापर विरोध तो उसे कहते हैं कि वस्तु के संबंध में आज क्या बोले - कल क्या बोले - यह बात जैनदर्शन में कहीं ढूंढ़ने को नहीं मिलेगी, इसलिए पूर्वापर

विरोध सदा ही हारा हुआ है वह विश्वास के लायक नहीं। अरे झूठा वकील भी इतना सतर्क रहता है कि पूर्वापर विरोध न आ जाए, मैं हार जाऊँगा। अनेकांत मात्र विवेचन की वस्तु नहीं, प्रयोग पद्धति है, जो हमारे भव के भय को धराशाही कर देता है, और आनंदमयी जीवन की शुरूआत हो जाती है।

अनेकांत के अंचल में प्रमाणज्ञान के द्वारा द्रव्य व पर्याय का स्वरूप जान लेने पर श्रुतज्ञान का कार्य उसमें से अपने प्रयोजन की वस्तु को चुनना होता है, पदार्थ में से जो जितना अपेक्षित होता है, उतना वह ले लेता है, शेष अंश को छोड़ देता है क्योंकि उसके आश्रय के योग्य निरंश, अखंड अभेद ज्ञायक ही होता है और ज्ञान के साथ श्रद्धा भी उसी अनंत गुणात्मक एक सामान्य अभेद, अन्वय स्वरूप शाश्वत सत्ता को अहं देती है, विकारी व निर्विकारी केवलज्ञान की शुद्ध पर्याय भी क्षणिक होने से श्रद्धा को अवलंबन नहीं दे सकती इसलिए नित्य शुद्ध पारिणामिक तत्त्व ही श्रद्धा का श्रद्धेय होता है, श्रद्धा सदैव ऐकान्तिक होती है और ज्ञान अनेकांतपूर्वक सम्यक् एकांत की ओर बढ़ता है। इस प्रकार ज्ञान व श्रद्धा दोनों शुद्धात्मा के साथ एकाकार हो जाते हैं और परम आनन्द झरने लगता है। श्रीमद्जी ने भी कहा है – 'अनेकांत मार्ग सम्यक् एकांत ऐवा निज पदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुए कार्यकारी नथी।'

(3)

अरे! ये तो गारुड़ी मंत्र है

'हे योगी तू ध्रुव तत्त्व को भज, अध्रुव तत्त्व की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन।'

देखो! ये आप्त वचन हैं या हीरे-मोती! जो विश्व के किसी शोरूम में नहीं मिलेंगे यह तो दिगंबर संतों के खजाने की अचल संपत्ति है, शुद्धात्मा की गहराईयों में उतरकर उसकी अनुभूतियों को इन मोतियों से गूँथा है, इसका एक-एक वाक्य सारे लोक की संपत्ति से अधिक है माँ जिनवाणी की असीम कृपा है, असाधारण प्यार है हम पर। जो हमें भव-विच्छेद के मंत्र देती है, इन परमागमों का यह मधुर प्रसाद है, जो मरते हुए को जिंदा कर देता है, ऐसे गारुड़ी मंत्र हैं ये, एक वचन भी जीवन में क्रियान्वित हो जाए, रोम-रोम में बस जाये तो मुक्तिश्री रूपी लक्ष्मी, अटूट मिलती है, तुम जीभर कर इसका भोग करो अरे! बाहर की जड़ लक्ष्मी तो मिट्‌टी के ढेले हैं और उन ढेलों से इसे विश्व का धनपति घोषित किया जाता है। मिट्‌टी से उसे इज्जत देकर मान के शिखर पर चढ़ाते हैं लेकिन वह इज्जत तो खिसक जाने वाली है एक दिन लुट जायेगी, शिखर से गिर जायेगा, फिर यह भयंकर रुदन करता है। इन करुणावंत जिन गुरुओं के वचन सुन भीतर से रोमांच हो जाए कि मैं ही मोक्ष का अधिकारी हूँ अस्थानों पर पड़ी हुई श्रद्धा डोलायमान हो जाए वह कह उठे कि मैं तो लोक का सम्राट हूँ अध्रुव तत्त्व मेरे से अलोकाकाश जितना दूर है क्योंकि मैं महात्मा परिणाम को स्पर्शता ही नहीं, मुक्ति भी मुझे स्पर्शती नहीं, फिर 'अध्रुव' की चिन्ता के निरर्थक विकल्प क्यों? मुमुक्षु को ऐसी धारा विदाउट ब्रेक चलती है। यही उसका जीवन है।

(4)

ज्ञानी का चित्र
भोगों की तन्द्रा में नहीं; योग निद्रा में देखो

तत्त्व दृष्टा पुरुष को अपने निर्मल ज्ञान में क्रमबद्ध का स्वरूप

सम्यक् प्रकार से समझ आ जाने पर उसे निश्चित रूप में आत्मानुभूति व आत्म दृष्टि का जन्म हो जाता है फलस्वरूप 'ज्ञानी' संज्ञा से अभिहित किया जाता है यह पहलू परम सत्य है ही लेकिन फिर भी एक दूसरा पहलू जिसमें उसकी अपनी भूमिका के योग्य कर्ता-कर्म का स्वर (विकल्प) चलता हुआ दिखाई देता है जैसे कि मुझे मंदिर जाना है, व्यवसाय करना है, मैं भोजन करता हूँ, यह मेरा परिवार है इत्यादि। उसका यह स्वर देख हमें प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों होता है? अकर्ता का स्वर तो ज्ञानत्व की अनुभूतिरूप होता है न?

सचमुच देखा जाय तो समस्त शुभाशुभ विकल्प का स्वरूप कर्ताकर्म रूप ही होता है परन्तु कर्ताकर्म जैसा होने पर भी, उसमें कर्ताकर्म की 'कर्तृत्व बुद्धि' का नितान्त अभाव है, कारण कि उसे अपने सम्यग्ज्ञान में यह विदित हो चुका है कि - विकल्प की कक्षा ही बिल्कुल न्यारी है, अतः इसका स्वर भी करूँ करूँ का होता है- विकल्पों की काया तो राग अर्थात् पुद्गल से बनी है, मेरा सुन्दर शरीर, मेरा बंगला, ऐसे यह विकल्प ऊपर से तर जैसे लगते हैं किन्तु अन्दर से चट्टान की तरह एकदम सूखे हैं, निर्जीव हैं।

अहो! तत्त्वदृष्टा तो वस्तु स्वभाव पर आधारित ज्ञान द्वारा यह जानता है कि विकल्पों की जर्जर बस्ती मेरे फौलादी घन ज्ञान से बहुत दूर है, जो व्यक्ति विकल्प की शिकायत करता है वह शतांश झूठ है, अतः ज्ञानी को विकल्प का किंचित् भी विश्वास नहीं उसका ज्ञान तो क्रमबद्ध व होनहार का विश्वासी है इसलिए उसे विकल्प के घोर आतंक पर भी न ही कोई भय और न ही कोई चिंता।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सम्यग्दर्शन हो जाने पर विकल्प के तो प्राण ही निकल चुके हैं वह अब पार्थिव शरीर जैसे पड़े हैं इसलिए

आत्म दृष्टिवंत यह जानता है कि जब तक मेरी मुक्ति नहीं होगी तब तक यह अबोध, ना समझ बालक की तरह शोर मचाते रहेंगे और मेरा मोक्ष जब भी होना है वह अपने पुरुषार्थ के निश्चित क्रम में ही होना है, अक्रम कुछ होना नहीं है, ऐसा ठोस ज्ञान होता है उनका, सचमुच! ज्ञानियों का चित्र भोगों की तन्द्रा में नहीं, योग की निद्रा में देखो।

(5)

अहमेक्को

'अहमेक्को' - मैं एक हूँ - 'एक' विशेषण संपूर्ण आगम में स्थान-स्थान पर आया है, यह शब्द रत्नों की भाँति बड़ा कीमती है और 'एक' विशेषण अनेक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है, एकत्व सदा पूर्ण व सर्व कर्म विमुक्त, सर्व संग से मुक्त, शुद्ध-शुद्ध व मस्त होता है, शताशतः द्रव्य स्वभाव भी त्रिकाल अकेला है और अपने एकत्व में सदैव प्रतिष्ठित रहता है, स्वयंभू होने से भूत-भविष्य-वर्तमान काल की अपेक्षा शून्य, काल भी कला से रहित है, अनेक अवस्थाओं के चक्र में वह कभी नहीं परिणमता ऐसा एक है क्या कहें! रागादि व पुण्य-पाप की पर्याय तो दूर रहो किन्तु, क्षायिकज्ञान, केवलज्ञान की अनंती पर्याय मिलकर भी उसके एकत्व के खण्ड नहीं कर सकी क्योंकि मेरा अखंड, वज्रमयी स्तूप है, जैसे आकाश एक अखंड अमूर्तिक महापदार्थ है, उस पर कोई बम बरसाये, अग्नि जलाये, तलवार से प्रहार करें, लेकिन आज तक उसे कोई खंडित नहीं कर पाया - ऐसा ही आकाश की भाँति, सघन, एक प्राणवान परम पदार्थ हूँ।

अहमेक्को सासदो अप्पा - यह शब्द बहुत महत्त्व का है समयसार

परमागम की 6–38–73 नं. की गाथाओं व टीकाओं में 'एक' की बड़ी गंभीर व्याख्या की है, जिसमें आत्मा का एकत्व सिद्ध करते हुए, उसे अन्य समस्त संयोग लक्षण वाले पर्याय भावों से सर्वथा पृथक् बताया गया है।

जैसे 'एक' का अंक होता है, बताओ उसमें क्या जोड़ा जाये कि वह पूरा हो जाये और उसमें से क्या निकाला जाय कि वह अधूरा रह जाय? अरे जो सदा से ही संपूर्ण है, उसमें कुछ डालने व निकालने की चेष्टा तो अपने ही श्रम का अपमान है, अनुत्पादक श्रम है जगत का कोई बलशाली भी उस एक के अंक को आज तक चेलेन्ज नहीं कर पाया, उसकी सत्ता को मिटा नहीं सका, तो मुझ चेतन की अमिट–अनादि–अनंत सत्ता को मिटाने की ताकत है किसी में? मिटाने वाला मिट जायेगा पर मैं नहीं।

'एकत्व' में कभी द्वैत नहीं समाता, जैसे कोई व्यक्ति आजन्म ब्रह्मचारी है बताओ वह किससे संबंध बनाये? न किसी का जन्म मनाये न किसी की मृत्यु, न उसे कोई रोने वाला, न वह किसी को रोने वाला, कितना निर्भार हो गया क्योंकि सारे कृत्रिम संबंधों की शृंखला टूट गई।

संसारी अज्ञानीजन ऐसा मानते हैं कि अकेला तो असहाय, बेसहारा, निठल्ला होता होगा, उसका कोई नहीं तो कैसे समय बीतता होगा। आचार्य इसका उत्तर देते हैं – यह तेरे रिश्ते धोखेबाज हैं, कहने के साथी हैं, ठगों की टोली है, प्रतिदिन तुझको छोड़कर जा रहे हैं और तू विलाप करता रह जाता है तू बंधन से निरन्तर जकड़ा हुआ है और किसी धन्य घड़ी में बंधन से निकलने का तुझे शुभ विकल्प आया है समझना तेरी होनहार अच्छी है।

एकल विहारी, एकाकी निर्जन के जंगलों में, अपने एकत्व की अनुभूति में तल्लीन, उसमें से झरते रस को पी-पीकर वे स्वरूप मंथर योगी, मुक्ति की ओर डग भर रहे हैं, उनके लिए एक काव्य में सुन्दर पंक्तियाँ आती हैं -

एक योगी अशन बनावें, आप बनावें आप ही खावें।
खावत नाहिं अघावे, एक योगी अशन बनावें।।

ऐसा मेरा 'एक' यही ध्यान का ध्येय व श्रद्धा का श्रद्धेय है इसलिए एकत्व ही लोक में सर्वत्र सुन्दरता को प्राप्त होता है, इस एक के गहरे तल में उतरो तो अनंत रत्न मिलेंगे, कारण कि 'एक' चैतन्य सिन्धु अनंत को पीकर बैठा है।

(6)

अरे! वीर्य हो तो अश्व जैसा

त्रैलोक्य में मेरा शुद्धभाव, ध्रुवभाव ही अनंत वैभववान है - अलोकाकाश के प्रदेशों से काल के समयों से अधिक, गुणा राशि की अचल संपत्ति का स्वामी हूँ, ऐसे शुद्ध भाव की जिसे महिमा न आवे, वह तो अभागा है। अरे जैसे भूखे आदमी को रोटी का पहला ग्रास स्वर्गों के अमृत जैसा लगता है, वैसे ही आत्मा मधुर है-अनंत शक्तियों का रसगुल्ला है, रसगुल्ले जैसा रस इसमें से रिस-रिस कर आ रहा है, उसको देखकर, उसकी वार्ता सुन हमारे हृदय में रस क्यों नहीं बनता ? जैसे अपने पुत्र के प्रति अन्तर्प्रीति होती है-अन्य पुत्र के प्रति बहिर्प्रीति, ऐसी प्रीति अपने ज्ञायक की हो, रूखा चित्त न हो, मुरझाया मन न हो, तो शुद्धभाव की दृष्टि का सुन्दर अवसर हमें मिल सकता है, वरना द्रव्य दृष्टि से शुद्ध हूँ, पर्याय दृष्टि से अशुद्ध - ऐसे

नयों के चक्र में घूमता हुआ, परिणाम की मूढ़ता द्वारा मिथ्यादर्शन को पुष्ट करता रहता है और ध्रुवभाव हाथ से खिसक जाता है। अरे! 'वीर्य हो तो अश्व जैसा' जो पर्याय की दीवार को लांघता हुआ, अपने शुद्धात्म तत्त्व पर छलांग भर लेता है। इस अतुल बल में से सम्यक्त्व का पूत जन्म लेता है, बाकी सारा शुभाशुभ में व्यस्त वीर्य–नपुंसकता है, दृष्टि फिर जाने पर पुरुषार्थ की दिशा भी बदल जाती है और पुरुषार्थ की बात तो एक बूँद जैसी है यह तो पुरुषार्थ शिथिल है, ऐसा कहकर मिथ्यात्व को ढ़कना चाहता है, यह स्वयं के साथ छलना है।

(7)

ज्ञेयों का मोह, भव का बीज

ज्ञान है सो आत्मा ही है, ऐसे ज्ञान के शुद्ध स्वरूप को नहीं जानता हुआ अज्ञानी सदा से अपनी ज्ञेय लुब्धता को नहीं छोड़ना चाहता, वह अपने ज्ञेय मिश्रित ज्ञान अर्थात् ज्ञेयाकारों में प्रतिसमय लुब्ध रहता है उसकी यह आसक्तता, लुब्धता ज्ञान सामान्य के दर्शन में बड़ी दीवार बनकर खड़ी रहती है क्योंकि जितने भी ज्ञेयाकार अर्थात् विशेषाकार हैं, उन्हें वह विशेष मानता हुआ, अनेक प्रकार की कल्पना किया करता है, इसके फल में सदैव शंकित होता हुआ चिंतित रहता है।

जबकि सही स्थिति तो यह है कि प्रत्येक ज्ञेयाकार वह ज्ञान की ही संरचना है, उसका हर प्रदेश ज्ञान है और वह आकार अर्थात् पदार्थ का द्रव्य–गुण–पर्याय सबकी सब ज्ञान की ही कल्लोल, ज्ञान का ही आकार है–आकार का अर्थ–पर्याय अर्थात् जाननभाव। उस ज्ञान का परीक्षण करने पर पता चला कि इसमें तो ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, वह आकार ज्ञान के मेटेरियल का ही बना है, अज्ञानी क्या

करता है ? अपनी ज्ञेय लोलुपता के कारण प्रतिसमय चल रहे ज्ञान सामान्य का परित्याग कर देता है और उसी पर्याय में चल रहे विशेष ज्ञेयों की ओर झपटता है एवं उसमें अहं कर उसे रखना चाहता है पर्याय को जाने नहीं देना चाहता, लेकिन जब पर्याय सहित ज्ञेय (विशेष) बदलता है तो इसका अहं आघात को प्राप्त होता है और यह रोता हुआ भयंकर क्लेश में डूब जाता है। पुनः पूर्ववत् नये ज्ञेय में अहंशील होता है इस तरह पर्याय के पाट पर खड़ा रह, उन आने-जाने वाले चित्रों को देखता हुआ, अनंत काल बिता देता है। सचमुच ज्ञेयों के मोह में, ज्ञान की विराधना यही भव का बीज है मैं तो ज्ञान का ध्रुवतारा हूँ - यह मंत्र भव संतति का अंतिम चरण है।

(8)

शपथ लो
कि मैं आज से परिणाम दृष्टि का विसर्जन करता हूँ

सचमुच कुदरत की क्रमनियत व्यवस्था में परिणाम को देखने व करने का अधिकार आत्मा को तनिक भी नहीं! सहज होते हुए परिणमन में क्या करें, और नहीं होने वाले परिणमन में कौन क्या करें ? दोनों में ही आत्मा का कर्तृत्व समर्थ नहीं फिर भी पर्याय के क्षण-क्षण में उत्पन्न होने के समय ही अज्ञानी उस पर्याय को अपनी पूरी आत्मा मानकर उसे पकड़ कर टिकाना चाहता है, लेकिन वह क्षण भर में खिसक जाती है और यह विलाप करता रह जाता है मानो मौत ही हो गई हो। जैसे - परिवार में एक छोटा बालक होता है उसके हाथ में घड़ी आ जाए तो वह उसकी सुई को पकड़ कर बैठ जाता है आगे नहीं बढ़ने देता, इस पर वह पिता की मार खाता है डाँट खाता है।

ऐसे ही परिणाम की अपनी स्वतंत्र अहेतुक व्यवस्था जिसको करने का द्रव्य को भी अधिकार नहीं, फिर हमारी क्या विसात्? अरे परिणाम की संभाल से परिणाम नहीं संभलता लेकिन परिणाम की संभाल छोड़ देने पर हर परिणाम संभला हुआ आता है। "द्रव्य की दृष्टि में परिणाम की सुरक्षा है", वरना नाशवान के साथ एकांत आकुलता है पर्याय की क्रमबद्धता का विश्वास ही पर्याय दृष्टि के अंत का मंत्र है। मैं परिणाम जितना हूँ, यह परिणाम निष्ठा–जो हमें निर्भय नहीं होने देती–मैं अपरिणामी, परमात्म द्रव्य हूँ, यह दृष्टि भव का छेदन कर निर्भय बनाती है।

यदि अपने को कुन्दकुन्द का वंशज मानते हो जैन संविधान का पालन करते हो – तो शपथ लो, हस्ताक्षर करो, कि इसी पल में अनादि की इस परिणाम दृष्टि का विसर्जन करता हूँ – है इतनी ताकत? अन्यमत में एक अनारकिष्ट मत है उसकी संस्था के ऐसे नियम है कि यदि किसी को उस संस्था का सदस्य बनना हो तो, उनके हाथ पर जलता हुआ अंगारा रखा जाता है–और वह आह न करें, तो उसे उसका सदस्य बनाया जाता है। हम भी यदि कुन्द–कुन्द व पू. गुरुदेव के शिष्य हैं तो उनके सांसद में शपथ ग्रहण करो, कि मैं आज से परिणाम दृष्टि का परित्याग करता हूँ।

(९)

चिंतनीय तथ्य
विरागता विचार एवं विकल्प

विरागता के साथ विचार एवं विकल्प हो तो सकते हैं, किंतु विरागता की शांति एवं अनुभूति से, विचार एवं विकल्प शून्य रहते हैं।

जैसे एक खेल में खिलाड़ी को खेले जाने वाले खेल की अनुभूति होती है, किन्तु उसके साथ के रेफ्री एवं दर्शकों को वह अनुभूति किंचित् भी नहीं हो – यद्यपि रेफ्री एवं दर्शक का स्वर वही होता है, जो उस समय खिलाड़ी की अनुभूति का होता है।

ऐसे ही खिलाड़ी की तरह ज्ञानी साधक की विरागता व अनुभूति होती है, जिसमें एक मात्र अपने चैतन्य के अर्न्तमुखी संवेदन पूर्वक शांति व आनंद का ही वर्तन होता है तथा विचार व अनुभूति शून्य जानन क्रिया अर्थात् रेफ्री के स्थान पर रहते हैं, वह कैसे ? पुरुषार्थी साधक को आत्मानुभूति के पूर्व ज्ञान में आत्मा के ही संबंध में अनेक विचार तरंगे उठती हैं मैं शुद्ध हूँ–एक हूँ, ध्रुव हूँ, अपरिणामी हूँ आदि–आदि ये विचार बड़े उत्साह के साथ उछल–उछल कर आते हैं, किन्तु उन विचारों में अनुभूति की क्षमता नहीं है, क्योंकि विचार तरल होते हैं चाहे आत्मा को जानने के प्रयास में तत्पर हैं और चिन्मय सदृश ही दिखाई देते हैं, फिर भी प्रकाश पुंज स्वभाव से दूर होने के कारण उसकी अनुभूति नहीं कर पाते वरन् उसके विरोधी हैं। जहाँ तक विचारों की तरंगित सरिता की धारा बहती रहेगी वहाँ तक ज्ञानघन आत्मा की घनीभूत अनुभूति किंचित् भी नहीं हो सकती, क्योंकि स्वयं वस्तु निस्तरंग विचारातीत है। सचमुच! विचारों में वस्तु नहीं ये विचार तो थकान पैदा करने वाले हैं। इनमें कभी विश्राम नहीं मिल सकता मेरा विश्राम स्थल तो एकमात्र निर्विकल्प, अविनश्वर, अक्षय घनसत्ता ही है। इस प्रकार यहाँ दर्शक का स्थान विकल्प को दिया जायेगा और जैसे खेल में हार व जीत से खिलाड़ी को जो सुख व दुख का अनुभव होता है, तब उसके साथ में दर्शक भी अपना वैसा ही भाव व्यक्त करता दिखाई देता है लेकिन वह उस सुख–दुखमय

अनुभूति से एकदम दूर रहता है बिल्कुल ऐसे ही इन शुभाशुभ विकल्पों की स्थिति होती है ये विकल्प भी ज्ञान व जानन क्रिया से शून्य होने से सर्वथा जड़मय हैं। अनुभूति के पूर्व साधक को जब ज्ञानात्मक विचारों की प्रक्रिया चलती है उस समय वहाँ रागात्मक विकल्प भी चारित्र की क्रमिक भूमिका में अवश्य होते ही हैं, लेकिन वे विकल्प ज्ञानानुभूति से शून्य उस दर्शक के समान है, उन विकल्पों को जानने वाला तो ज्ञान होता है राग तो स्वयं को भी नहीं जानता और आत्मा को भी नहीं जानता।

(10)

मृत्युंजय है मेरी सत्ता

कुदरत के जटिल विधान के अंतर्गत यद्यपि 'मृत्यु' परम सत्य है, किन्तु इस विधान के आलोक में आत्मसत्ता इस प्रकृति की वह मृत्युंजय शक्ति है, जिसे आज तक कोई बलशाली सम्राट व सेनानी नहीं मार पाया, मेरे अमर अस्तित्व को कोई क्षत-विक्षत नहीं कर सका, क्योंकि मैं तो उस अक्षय धातु का बना हुआ हूँ, जिसका भेदन नहीं हो सकता। मुझे आज तक किसी मृत्यु ने घाता हो या कभी मुझे मृत्यु आई हो, इसका मुझे पता ही नहीं। अरे! मेरे को तो कुन्दकुन्द जैसे ऋषियों का वरदान है, मेरे शीश पर उनका हस्तकमल है, तेरा अविनाशी कल्याण होगा, तू निर्भय व निरापद व निश्चिन्त रह, तेरे इस मार्ग में कोई विपत्ति आने वाली नहीं है, ऐसा सुनते हैं, सारी चिन्ताओं का ज्वार सूख जाता है, समस्त विकल्पों का तूफान जाने कहाँ चला जाता है, जैसे शेर की दहाड़ मात्र से गीदड़ तितर-बितर हो जाते हैं वैसे ही मृत्युंजय है, मेरी सत्ता! मेरा स्पर्श भी कर ले, तो

मौत की मौत हो जाती है – ऐसे विकल्पमात्र से–शांति की धारा बह चलती है, पर्याय की दृष्टि तो मृत्यु है जो स्वयं ही मर जाती है, जिसकी उम्र ही नहीं है, नाशवान तत्त्व है और आत्मा नाश होनेवाले भावों से सदा दूर रहता है। देहासन्न का नाश की बात से रोम–रोम भयभीत होता है, जो व्यक्ति स्वयं ही मृत्युशय्या पर पड़ा है, वह क्या कमाकर खिला सकता है ? अरे ! मरने के किनारे वाले से क्या आशा करे, ऐसे ही परिणाम मात्र से क्या आशा करे ? इसकी उपेक्षा हो जाने पर अमरत्व का मंगलगान होता है अरे ! सम्यग्दृष्टियों के लिए यह मृत्यु मंगलगान बनकर आती है। वे इसे नव जीवन का शुभ आमंत्रण कहते हैं, मौत को आया हुआ देखकर योगी जन तो अपने पुरुषार्थ को और अधिक उग्रकर समाधिस्थ हो जाते हैं, उनका साहसी हृदय बोल उठता है कि

'मौत आये तो तू उसे यों कह देना ऐ जिंदगी।
सैर पर गये हैं वो घर पर नहीं हैं अभी।।'

यह ज्ञानियों के अन्तरतम का चित्र है।

(11)

नौ हाथ का कलेजा चाहिए

पर्याय का क्या होगा ? वही होगा जो आजतक होता आया, भावमरण ! और संसरण। ऐसी पर्याय की चिन्ता करने वाला, अरे तू अभी भी पर्याय दृष्टि वाला मिथ्यादृष्टि है, यदि पर्याय का निर्वाण चाहते हो, तो पर्याय का सर्वथा विस्मरण कर दो, उसे पाताल में भेज दो, उसे बार–बार याद करने से, हर समय तलवार सिर पर झूलती रहती है, मौत ही मौत का अनुभव होता है और पर्याय को द्रव्य के

साथ सटा देने पर अमरत्व ही अमरत्व का संचेतन होता है। पर्याय ने द्रव्य की ओर देखकर अपनी सत्ता मिटा दी, उसे अपने आपको मिटाना पड़ा, क्योंकि समर्पण में एक को मिटना पड़ता है, वह द्रव्य से जुड़कर द्रव्य ही बन गई, दो होने पर भी दो दिखाई नहीं देते, चाहे केवलज्ञान की पर्याय ही क्यों न हो, सिद्ध दशा ही क्यों न हो, लेकिन उनकी उम्र नहीं है, वह दृष्टि के भार को नहीं झेल सकती। **अरे! ऐसी स्वीकृति के लिए नौ हाथ का कलेजा चाहिए।** जैसे एक राजा के यहाँ सुन्दर राजकुमार का जन्म होता है, राजा उसकी कुण्डली किसी योग्य ज्योतिषी को दिखाता है, ज्योतिष बोला – आपका बच्चा बड़ा भाग्यशाली है, राजयोग है, किन्तु इसकी उम्र तीन दिन की है, बताओ क्या ऐसे राजकुमार को राजगद्दी सौंपी जा सकती है ? जिसकी उम्र ही नहीं है, वह क्या शासन करेगा, हूबहू ऐसे ही यह पर्याय चैतन्य के शासन को चलाने में सर्वथा अक्षम है, सक्षम नहीं, कारण कि क्षणभंगुर है, उसकी अहमियत निगोद पहुँचाने वाली है, दृष्टि के विषय में दृष्टि भी उपेक्षित हो जाती है, न जाने कहाँ चली जाती है सम्यग्दृष्टि कहते हैं हमें तो पता नहीं, पर्याय हमारे साथ में है क्या ? मुझे तो सर्वत्र मेरा ज्ञायक ही प्रतिभासमान हो रहा है, मेरे विश्व की भूमि ज्ञायक की बनी है यह एक ही धारा सिद्ध दशा तक चलती है।

पं. राजमलजी साहब कलश टीका में लिखते हैं – ''सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर अपनी आत्मा को आस्वादते हैं, उन्हें तो निरन्तर निर्जरा होती है।'' ऐसा 'भावश्रुतज्ञान' निर्मल उपयोग, शुद्धाशुद्ध पर्यायों से भी विविक्त होकर पानी के ढाल की तरह अपने 'चिन्मात्र ज्ञायक' में ढल गया। अरे ! आनंद उछल पड़ा। इस स्वरूप तन्मयता की दशा में शुद्धोपयोग, धर्मध्यान, आत्मसंवेदन में अनंत गुण क्षण मात्र में खिल उठते हैं।

(12)

'ज्ञान तो नट नागर है'

'ज्ञेयों से ज्ञान में कुछ विशेषता नहीं आती', अज्ञानी विशेष की दृष्टिवाला होने से उसे ऐसा लगता है कि यह मेरे ज्ञान के चित्र (ज्ञेय) परिवर्तित न हो जाये, मुझे बुखार न हो जाये, पैसा चला न जाये, परिवार बिछुड़ न जाये, ऐसे वह अपने क्षणिक वर्तमान क्रोध को पकड़ कर रखता है, जिसे चाहता है वह टिकता नहीं, टिके भी क्यों ? क्योंकि उस ज्ञेय की अवधि ही एक समय की है, वह निश्चित परिवर्तित होगा और इसका कलेजा टूक-टूक होता है। कारण कि आकार में विमोहित है, अतः उसे ज्ञान सामान्य की अनुभूति नहीं होती।

जैसे शक्कर के अनेक खिलौने बनते हैं, शक्कर की साइकिल, शक्कर का मोर, हवाई जहाज, आम आदि आदि। 5 साल का एक छोटा बच्चा उन खिलौनों से खेलता है तो वह उस शक्कर की साइकिल को असली साइकिल जानकर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करता है यदि गिरने पर वह साइकिल टूट जावे तो बहुत रोता है, कहता है पापा मेरी साइकिल टूट गई लेकिन उसके रोने पर पापा हँसते हैं क्योंकि उनकी नजर शक्कर पर है साइकिल पर नहीं। वे उसमें शक्कर ही शक्कर देखते हैं। उन्हें पता है कि इसमें लोहे की साइकिल का एक अंश भी नहीं, इसलिए कहते हैं कि साइकिल को चाय में डाल दो, ऐसे शक्कर सामान्य को देखने वाला प्रसन्न रहता है, वह निश्चिन्त होकर यह कि जानता है, आकार विशेष से कुछ भी घटा व बढ़ा नहीं - ऐसे ही यह ज्ञान नट नागर है अपनी बाजी किया करता है, ज्ञान में जो कुछ विशेषाकार बन रहे हैं तरह-तरह के चित्र,

उनसे ज्ञान में कुछ विशेषता नहीं आती, ज्ञानी जो ज्ञान को ज्ञानरूप से वेदता हुआ हर्षित रहता है, वह कहता है मेरे ज्ञान की दीवार वज्र की बनी है, इसमें ज्ञेयों का प्रवेश निषिद्ध है।

(13)

कारण तत्त्व में कार्य तत्त्व छिपा है

सम्यग्दृष्टि का कारण तत्त्व व कार्य तत्त्व दोनों शुद्ध हैं, नियमसार 73वें कलश में यह अत्यंत गंभीर वचन आया है, सम्यग्दृष्टि जीव जिन्हें एक बार भी आत्मा का अनुभव हुआ हो, वह शुद्धोपयोगी, भावश्रुतज्ञानी आत्मा कार्य तत्त्व है। अरे! चारों ही गतियों के सम्यग्दृष्टि-कार्य तत्त्व कहलाते हैं, इनमें और सिद्धों में कोई अन्तर नहीं है।

कारण तत्त्व - शुद्ध अन्तस्तत्त्व स्व शुद्धात्मा कारण तत्त्व है, इसके आश्रय से प्रगट होनेवाला सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रय परिणाम, वह कार्य तत्त्व है।

संसार के सभी जीव निगोद से लेकर सिद्धदशा तक कारण तत्त्व वाले ही हैं, यह तो प्रत्येक जीव को सदा विद्यमान हैं, लेकिन कार्य प्रगट क्यों नहीं हुआ, इसका मुख्य हेतु यह है कि उसे कारण बनावे अर्थात् उसका अवलंबन ले तो कार्य प्रगट हो, यह तो सदा शुद्ध का शुद्ध विद्यमान है अतः उसमें से शुद्ध कार्य अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रकट होना चाहिए, लेकिन कभी भी ऐसा नहीं होता, क्योंकि वास्तव में वह ध्रुव कारण, पर्याय का कारण भी नहीं होता, वह तो अकारण परमात्मा त्रिकाली, नित्य, स्थाई पड़ा है, उसे तो सम्यग्दर्शन व सिद्ध दशा की भी जरूरत नहीं, क्योंकि वह सर्व-परिणाम शून्य है, ज्ञान

की पर्याय जब उसका लक्ष्य करती है, तो उसका वैसा का वैसा हूबहू प्रतिबिंब पर्याय में ज्यों का त्यों चित्रित हो जाता है एवं तत्क्षण ही आनंद का दह फूट पड़ता है, तब कार्य प्रगट हुआ और तब यह कारण तत्त्व कहलाया।

जैसे धरती के बीस फीट नीचे पानी का झरना बह रहा है, लेकिन हमें आज तक पता नहीं था किसी इंजीनियर ने बताया कि इस जगह पानी है ऐसा जानकर खुदाई प्रारम्भ की और जैसे ही पपिंग करता है तो पानी उछलने लगता है, शीतल जल से अपनी प्यास बुझा लेता है इसीप्रकार जब कारणतत्त्व की ओर श्रद्धा व ज्ञान झुकते हैं, तो पर्याय में आनंद के फव्वारे फूट पड़ते हैं एवं अनंत शक्तियों में निर्मल परिणमन होने लगता है।

सम्यग्दृष्टि की अपरंपार महिमा दर्शाते हुए उन्हें सिद्धों के निकट बिठाया है, कारण परमात्मा तो सम्यग्दृष्टि का सदैव शुद्ध है ही और कारण तत्त्व की स्वीकृति करनेवाली भावश्रुतज्ञान की पर्याय वह कार्य तत्त्व है। सिद्ध भगवान भी वही अनुभव करते हैं और सम्यग्दृष्टि अपने भावश्रुतज्ञान द्वारा वही अनुभव करते हैं, दोनों में जरा भी अंतर नहीं है।

अरे! तैं तो अनूठा पारमार्थिक तत्त्व विशेष हूँ, ऐसी स्वीकृति भगवान सिद्ध को है, वैसी ही सम्यग्दृष्टि जीव को हर गति में चलती है, इसलिए पर्याय की चर्चा छोड़ो, वह मुझे एक क्षण के लिए भी अवलम्बन नहीं दे सकती, जिसप्रकार कांच की चूड़ी पर आश्रित सुहाग कभी टिकनेवाला नहीं – ऐसे ही पर्याय का ममत्व काँच की चूड़ी के समान है। अतः रंचमात्र भी क्षणिक पर्याय हमारे ममत्व का विषय नहीं हो सकती, उससे सर्वथा ममत्व छोड़कर उसे द्रव्य की

ओर ढाल दो, तब ऐसा अनुभव करती है कि मैं तो परम शुद्ध चैतन्य अक्षय तत्त्व हूँ।

जो पर्याय स्वयं ममत्वशील है, वह स्वयं के ममत्व का विषय नहीं हो सकती। जैसे पत्नी अपने पति का अवलंबन लेने वाली है, ममत्वशीला है, अतः वह स्वयं का भी ममत्व तोड़कर, संपूर्ण ममत्व पति पर समर्पित करती है, तभी वह पतिव्रता कहलाती है – ऐसा समर्पण पर्याय का द्रव्य पर होता है, इस सर्व समर्पण में बस ऐसा आनंद रस झरता है, जो वचन के अगम्य है, अन्य मत में हठयोग साधना करते समय, उनके कपाल से एक प्रकार का ब्रह्म रस झरता है, तो वे आनंदित हो उठते हैं, उनके बारे में कबीर लिखते हैं, 'दुल्हन गाओ मंगलाचार मेरे घर आये हैं राजा राम भरतार' ऐसे ही यह अनुभूति का ब्रह्म-रस, जिसे पीकर सारी पर्यायें आनंदित हो उठती हैं वे कहती हैं कि मेरे घर आये हो ध्रुवराजा राम भरतार। यह है सम्यग्दर्शन का महोत्सव, शुद्धात्मानुभूति, स्वसंवेदन, परम समाधि, निर्विकल्प संवेदन और अरे! यही कारण तत्त्व की अनुभूति का फल है।

(14)

कच्चे घाट के समान है, अज्ञानी के वचन

जैसे नदी के कच्चे किनारों पर यदि कोई नहाता है तो वह फिसलकर नीचे गिर डूब जायेगा – इसी प्रकार अज्ञानी के कच्चे घाट समान वचनों से आत्मा की अनुभूति नहीं होती है वरन् पतन ही होता है, कारण कि उसे जिन वचनों की छाया में, तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं है, सत्य श्रद्धान नहीं है, अतः अपने विपरीत अभिनिवेश

के साथ वह चाहे आगमानुसार ही बोलता हो, परन्तु वह वाणी उस भव्य पात्र को स्पर्श नहीं करती, अर्थात् उसके मिथ्यात्व का चूरा करने में समर्थ नहीं है, अज्ञानी तो स्वयं ही मिथ्या दर्शन जैसे महा विष से ग्रस्त है और उसके दर्शनमोह के क्षय उपशम क्षयादि नहीं है, आत्मानुभूति से कोसों दूर है तथा उसका ज्ञान चैतन्य के चिंतन व दर्शन के ताप में विधि पूर्वक पका नहीं है, अतः ऐसा, कच्चा ज्ञान, सम्यक्त्व व आनंद का उत्पादक नहीं हो सकता।

और ज्ञानी सम्यग्दृष्टि तो नदी के ठोस घाट के समान है, जो गहरी सरिता में डूबकर उसकी शीतलता और शांति में अवगाहन करता है चूँकि वह मोह व राग से विरक्त हो चुका है, अतः उसके द्वारा निर्दिष्ट सत् तत्त्व बोध से भव्य जीव अपनी अन्तर्भूत पुरुषार्थ शक्ति द्वारा अपने शुद्ध चैतन्य को उपलब्ध कर लेता है तब महामहिम, भव क्षायिक सम्यग्दर्शन जैसी निधि का उसकी परिणति में अवतरण होता है और यहीं से उसके मुक्ति द्वार का उद्घाटन हो जाता है।

(15)

मैं सर्व तत्त्वों में सारभूत हूँ

आप्तवचन अर्थात् प्रवचन–उत्कृष्ट वचन–वास्तव में सच्चे वीतरागी देव के वचन ही प्रवचन कहलाते हैं, ये वचन इतने अद्भुत व चमत्कारिक होते हैं कि तत्काल ही जीवन में मांगलिक हो जाये जिनवचन–जिनका श्रवण करने से क्रमशः अविनाशी मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, जिसका भोग जी भरकर अनंतकाल तक करते रहो, ऐसी अटूट व अखूट निधि को बताने वाले हैं जिन वचन।

अज्ञानी तो बाहरी लक्ष्मी, मिट्टी के ढेले की पूजा करते हैं, उनके

भीतर यह बात प्रवेश नहीं करती कि यह चैतन्य लक्ष्मी जो मुझे सुखामृत से भर देने वाली है उसे बताने वाली माँ जिनवाणी - कितना उपकार है तेरा कि मुझे यह ज्ञान आनंद का खजाना बता दिया मेरे शुद्ध तत्त्व को कोई भी परद्रव्य व विकारी पर्यायों का ढेर भी अपवित्र नहीं कर पाया। ऐसी अडिग श्रद्धा हो कि सचमुच मैं ऐसा ही हूँ, मुझसे बढ़कर और कोई भी नहीं है नाश होने योग्य जो पर्याय है, वह तो एक क्षण में विनष्ट हो जाती है, वह पर्याय मुझे छूती भी नहीं, मेरा तत्त्व उनके बीच रहता हुआ भी अपने अविनश्वर स्वभाव को नहीं छोड़ता नाश और अविनाश एक ही जगह पर रहने पर भी, मैंने आज तक नाश को ही स्वीकार किया, यह मेरी महा मूढ़ता है मैं सर्व तत्त्वों में सारभूत हूँ, नाश होने से योग्य भावों से दूर हूँ, ऐसा सुनकर प्रसन्नता नहीं आती।

अरे! जिसप्रकार हमारे घर में कीमती रत्न पड़े हों, कोई निमित्तज्ञानी हमें बताये कि धरती के इस कोने में है, उसका तुरन्त विश्वास करके हर्ष से उछल पड़ता है, उसीप्रकार ज्ञानी यहाँ कहते हैं कि तू 'सारे लोक में एकमात्र सारभूत तत्त्व है' सुनकर यदि हमारा हृदय हर्ष से न उछले तो समझना कि हमें इन वचनों में विश्वास नहीं है, प्रीति नहीं है, अभागे हैं हम!

मैं तो परिणाम मात्र से रहित हूँ, क्योंकि पर्याय चाहे सम्यग्दर्शन की हो, या केवलज्ञान की ही क्यों न हो, मुक्ति ही क्यों न हो, वह भी मुझे स्पर्श नहीं कर सकती, इस तरह सर्व पर्याय समुदाय से ममत्व तोड़ दे तो समझो कि सम्यग्दर्शन तो हमारी देहरी पर खड़ा है त्रिकाली तत्त्व तो शुद्ध-अशुद्ध विनाश होने वाली समस्त पर्यायों से सदा-सदा दूर ही रहता है ऐसा सर्वश्रेष्ठ ध्रुवतत्त्व मैं हूँ।

(16)

'किवदन्ती' पू. बाबूजी के शब्दों में

'मुझे कहीं खुदा नजर नहीं आया'

एक मुसलमान जब भारत आया, तो यहाँ उसने जैन मुनियों को वन-जंगलों में विचरते देखा - कुछ जानने की जिज्ञासा से वह उनके निकट रहने लगा, और उनका तत्त्व बोध सुनकर बड़ा प्रभावित हुआ तथा परम आस्थावान होकर, वह भी नग्न मुनि हो गया। इस पर बादशाह ने उस पर आपत्ति की और उसे हिरासत में ले लिया।

तब बादशाह ने उससे तीन प्रश्न किये।

1. तू नग्न क्यों रहता है। फकीर बोला 'मैं बेऐब हूँ, इसलिए नग्न रहता हूँ और तू ऐबला है, इसलिए अपने को ढंकता है।'

2. तू खुदा को क्यों नहीं मानता ? फकीर बोला - मुझे कहीं खुदा नजर नहीं आया, खुदा तो मुझे अपने भीतर ही नजर आता है।

3. तू महावीर को क्यों मानता है ? फकीर बोला - महावीर ने सबको मुक्ति का समान अधिकार दिया है इसलिए उसे मानता हूँ। इस दुनियाँ में जितने अन्य ईश्वर हैं, वह भक्त को हमेशा नीचे रखते हैं, इसलिए उन्हें नहीं मानता।

(17)

पर्याय पर बैठकर द्रव्य की बातें करना कायरता है

एक मिथ्यात्व का बीज पर्याय की प्रीति पूर्वक द्रव्य की उजली-उजली बातें करने में छुपा रह जाता है और पल-पल पलता रहता है, पर्याय त्रिकाल में श्रद्धा करने लायक नहीं है, क्योंकि त्रिकाली ध्रुव,

अनादि–अनंत तत्त्व को जैसा है, वैसा स्वीकार न कर, उसे अध्रुव, विनाशीक, अशुद्ध अनुभव करती है – ऐसा अनुभव कर–करके वह स्वयं नष्ट हो जाती है, यह उसकी बड़ी कमजोरी है, इसलिए परिणाम मात्र द्रव्य में मिश्रित करने लायक नहीं है, पर्याय ने द्रव्य को गलत जाना–माना तो वह स्वयं ही कष्ट उठाती रही, यद्यपि पर्याय की क्षणिकता या पर्याय का अपने जन्म क्षण में जन्म होना बुरा नहीं है, क्योंकि यह तो उसका अनादि स्वभाव ही है, विकारी पर्याय तो स्वयं ही अशुद्ध है अतः उसे तो द्रव्य में स्थान ही नहीं, किन्तु निर्विकारी शुद्ध पर्याय के लिए भी द्रव्य में कोई जगह खाली नहीं, सचमुच! अनुभूति की रीति यह है कि पर्याय को पर्याय की याद ही न आवें, पर्याय मात्र के प्रति बल दूर करके ऐसा प्रवचनसार परमागम में आया है अर्थात् पर्याय को सर्वथा अलग करके, उसके अस्तित्व से इन्कार कर, उससे अहं तोड़कर श्रद्धा मात्र त्रैकालिक में अहंशीला होती है वह स्वयं ध्रुव में मिल चुकी, ध्रुव हो गई और ज्ञान की पर्याय भी स्वयं अपना तिरोभाव करती हुई, अपने ज्ञेय में एकत्वशीला होती है इस निर्विकल्प स्वसंवेदन के काल में शुद्धात्मा का झरता हुआ आनंद पर्याय में झरने लगता है।

प्रमाण पक्ष से ग्रस्त व्यक्ति कहेंगे, अरे पर्याय का क्या होगा? उससे कहते हैं कि तू अभी भी पर्यायदृष्टि वाला मिथ्यादृष्टि है, पर्याय पर बैठकर द्रव्य, बड़ी–बड़ी बातें करता है, सुन! "सम्यग्दर्शन तेरी देहरी पर भी आने वाला नहीं है अतः चैतन्य का सिंहासन तो ज्ञानियों को संभलाया जाता है।" तुझ जैसे पापी कायर को नहीं। तू तो अनेकांत की बात करके अनेकांत की धूलधानी करता है पू. गुरुदेवश्री की निशंक वाणी कहती है, आत्मा एकांत शुद्ध है और यही सम्यग्दर्शन का प्रथम उदय काल है।

(18)

मोह के छिपने के ठिकानों पर छापा

करुणावंत सद्गुरु का उपदेश प्रीतिपूर्वक सुनकर संसार से भयभीत किसी निकट भव्य के जब मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है, तब वह द्रव्य, गुण, पर्याय का अवलोकन करता हुआ भेदज्ञान का प्रचण्ड पुरुषार्थ आरंभ करता है और इस निश्चय पर पहुँचता है कि पर्याय नाम का कक्ष मेरे आश्रय करने योग्य नहीं क्योंकि सागर की तरंग की तरह वह विनश्वर है और आत्मसागर सदा अविनश्वर है, वह इसके समकक्ष कैसे हो सकता है ? इसतरह सारे ही क्षणिक पर्याय समुदाय को अपनी दृष्टि में अदृश्य कर पर्याय मात्र के प्रति उसका अत्यन्त उदासीन ज्ञेय भाव वर्तता है। तब उसका पर्याय में छिपा मोह निराश्रित हो जाता है।

किन्तु एक स्थान और बच जाता है, जहाँ जाकर मिथ्यादर्शन छिप-छिप कर पलता रहता है, वहाँ असंख्यप्रदेशी चैतन्य के लोक में अनंत शक्तियों का सम्मोहन चक्र भी अनुभूति का अंतिम व्यवधान ही है, अनंत गुणों को अपने एक छत्र शासन में समेट कर बैठा चैतन्य सम्राट है, एक चैतन्य की अनुभूति में अनंत का अन्तर्धान हो जाता है, और एक-एक गुण की श्रद्धा में, अनंत विकल्पों का आविर्भाव होकर रह जाता है, किन्तु एक गुण की भी सर्वांग अनुभूति नहीं होती, क्योंकि गुण व पर्याय तो उस आत्म सत्ता के लघु अंश हैं वे पूर्ण द्रव्य नहीं हैं, अतः कभी पर्याय का विकल्प-कभी गुणों का मधुर विचार, दोनों भयंकर आकुलता के ही उत्पादक हैं, इन गुणों की मंद-मंद सुहावनी पवन के बीच मोह आकर छिप जाता है, अरे! अंश का विचार भी सम्यग्दर्शन नहीं होने देता, पूर्ण की अनुभूति में बाधा

बनकर खड़ा रहता है, यह अनंत मिलकर एक सत्ता का निर्माण नहीं हो सकता, ज्ञान, दर्शन, चारित्र कहने से तो वस्तु बिखर जायेगी, टुकड़ों में बंट जायेगी और निर्विकल्प वस्तु, शुद्धजीवास्तिकाय कभी हाथ नहीं आयेगी इसलिए सशक्त भावश्रुतज्ञान अनंत ही गुणों का विचार तोड़कर, विकल्पों के इन्द्रजाल को विघटित करता हुआ, उसे अदृश्य कर, अनंत को निस्तरंग अतल घन सत्ता में एकीभूत कर अन्तर्भूत कर देता है, उसी क्षण निर्मल स्व-संवेदन ज्ञान एकांत अपरिणामी शुद्ध तत्त्व हूँ, चित् चमत्कार, चिन्मात्र आत्मा हूँ, ऐसी अनुभूति रूप परिणमित हो जाता है, अब उसने बड़ी चतुराई से मोह को चारों ओर से घेर लिया जो गुण, पर्यायों में छिपा था, ऐसे मोह के छिपने के ठिकानों पर छापा मार दिया, तत्काल मोह निराश्रित होता हुआ, पलायमान हो जाता है तब यह सम्यग्दृष्टि पुरुष सुख की सांसें लेता हुआ अनंत काल तक जीवन्त रहता है।

(19)

'तत्त्व की विजय - विकल्प की पराजय'

आत्मज्ञानी पुरुष को भी गृहस्थाश्रम में अनेक कार्य संबंधी विकल्प उठते हुए देखे जाते हैं किन्तु जब उनके अनुसार तो कार्य नहीं होता वरन् उसके विपरीत कार्य होता हुआ दिखता है तो उस समय उसे तत्त्व की ही विजय होती हुई दिखाई देती है अतः तत्संबंधी न ही कोई खेदखिन्नता न ही कोई आकुलता! क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु की शक्तियों के निश्चित परिणमन को जान चुका है और उसे ज्ञान में यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि विकल्प में और कार्य में जमीन-आसमान का अन्तर है, अतः विकल्प के अनुसार कार्य होना भी क्यों चाहिए और विकल्प के अनुसार यदि किंचित् कोई कार्य

होता दिखाई दे, तो उसका वस्तु परक चिंतन यह होता है कि कार्य अपनी मर्यादित स्व सीमा में, तत् समय की योग्यता व अपनी उपादान सामग्री से ही हुआ है, न कि विकल्प के कारण। ऐसा हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हजारों विकल्प के बाद भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः इन तुच्छ विकल्पों की पराजय ही होती है और तत्त्व की विजय।

(20)

'पुण्य के फल में स्वर्ग के अंगारे'

जो इस विश्व में पुण्य को जीवित रखना चाहते हैं वे संपूर्ण विश्व का पराधीन एवं विभाजित स्वरूप देखना चाहते हैं, सहायता एवं सहाय्य, इस व्यवस्था में विश्व सदा पंगु बना रहेगा। सोचो! अमेरिका यह चाहे कि भारत सदा ही उसकी सहायता पर निर्भर रहे, तो क्या यह बात भारतवासियों को पसंद आयेगी, और बताओ सबको रोटी कपड़ा और मकान में स्वावलंबन चाहिए या परावलंबन ? इस प्रश्न पर सारे भारत का एक ही उत्तर होगा कि हमें स्वावलंबी व्यवस्था चाहिए, क्योंकि पराधीनता अत्यन्त कष्टकर मृत्यु समान है।

ऐसे ही समूचा पुण्य पराश्रित होने से, उसमें लगने वाला सुख (सुखाभास) वह सुख नहीं, इस सुख की जाति ही भिन्न है। वह तो नितान्त दुःख है तथा स्वाभाविक निराश्रित, वीतराग भाव ही आनंद मय होता है वीतराग भाव अपने में डूबकर प्राप्त किया जाता है और पुण्यभाव परसत्ता में डूबकर, अतः यह सर्वथा त्याज्य है।

पुण्य भाव की निरर्थकता का दूसरा हेतु यह है कि पुण्य परिणाम

के द्वारा जीव जो चाहता है, वह तो नहीं मिलता वरन् उससे विपरीत स्वर्गादिक मिलते हैं, इस परिणाम से वह किसी जीव की रक्षा करना चाहता है, किन्तु वह तो संभव नहीं हो पाती, बल्कि स्वर्ग मिल जाता जिसे शुभ परिणाम वाला कभी नही चाहता, शुभ के समय उसका प्रयोजन तो धर्म (वीतरागता) की प्राप्ति होता है। अतः शुद्ध वीतराग भाव ऐसे पुण्य की विपरीत दिशा से मिलने वाली वस्तु नहीं है।

जैसे एक पुत्र पिता की सेवा बड़ी तन्मयता से करता है और वह उनके स्वास्थ्य व आरोग्य को चाहता है, पिता के पास बहुत धन होने पर भी धन नहीं चाहता, वह तो पिता को आराम पहुँचाने के लिए पूरा प्रयत्नशील रहता है। फिर भी पिता तो मर जाता है और पुत्र के हाथ उसकी पूरी संपत्ति आ जाती है, जिसे वह तनिक भी नहीं चाहता था। पुण्यभाव की भी ठीक यही स्थिति है कि इससे व्यक्ति को अधर्म का सिंहासन तो मिल जाता है परन्तु उसके फल में तो स्वर्ग के अंगारे मिलते हैं न कि मुक्ति का झरना।

(21)

अरे! शिवभूति मुनि क्यों नहीं बन जाते?

चैतन्य विहार निवास स्थान पर हुई चर्चा –

मुमुक्षु समुदाय में से एक ने उत्सुकता पूर्वक पूछा पूज्य बाबूजी हमें क्या पढ़ना चाहिए? त्वरा से मंद मुस्कान के साथ पूज्य बाबूजी का जवाब आया, कुछ नहीं पढ़ना है बस एक को ही पढ़ना है, बहुत पढ़ने–सुनने के विकल्पों से विराम लो, ज्ञान को बहु विस्तार से समेट कर, एकदम संक्षेपण कर लो, देखो अधिक जानने की लिप्सा

से ज्ञान सदैव भारी रहता है, ज्ञान को आराम दो, जिससे वह प्रसन्न रहे, उसे एक विषय में रमाते चलो, जिससे उसका सुख और आनंद बढ़ता ही चला जाय ऐसी यह वन्डरफुल चीज मैं हूँ मेरी सत्ता विज्ञानघन पुरातन शाश्वत है जिसके पन्नों पर छपे इतिहास को यदि एक बार पढ़ लेगा, तो आनंद का झरना बह चलेगा, इसलिए ज्ञान को फैलाओ मत, बल्कि एकदम समेट कर, लक्ष्य पर केन्द्रित कर दो, क्योंकि जानने जानने के लोभ में यह प्राप्त ज्ञान लुट जाएगा, जितना ज्ञान हमें मिला है और जो ज्ञान राग व ज्ञान की भिन्नता कर, दोनों के बीच पैनी छैनी की तरह गिर पड़े, बस! शिवभूति मुनि जितना ज्ञान पर्याप्त है। 'तुष-मास घोसन्तो' दाल अलग है और छिलका अलग है, इतने ज्ञान में तो केवलज्ञान का राज्य मिल गया। अरे! कुछ नहीं जानते थे, णमोकार मंत्र भी याद नहीं रहा, सात तत्त्व, छह द्रव्य कुछ नहीं पढ़े लेकिन सब कुछ पढ़ डाला। सुनो! ज्ञान को अनेक शास्त्रों में फैलाने का आग्रह भी धन-धान्य जैसा परिग्रह है, अच्छा बताओ तुमने कभी मूंगफली खाई है? आत्मार्थी बंधु - हाँ बाबूजी कई बार खाई है। बाबूजी - कैसे खाई - छीलकर या बिना छिले? बंधुवर - छीलकर ही खाते हैं।

बाबूजी - बस इतना ज्ञान काफी है इससे अधिक नहीं। कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं -

देह और आत्मा का पृथक् बोध कर लो,
बाकी ज्ञान पेटी में बंद कर धर लो,
यही मोक्षमार्ग यही मोक्ष यही रत्नत्रय,
तिरने की एक कला जल्दी से सीख लो।।

सभी बंधु खुली हंसी में!

पू. बाबूजी – और सुनो! सम्यग्दर्शन के लिए तो जितना ज्ञान अभी हमारे पास है उतने की भी जरूरत नहीं, अरे! शिवभूति मुनि ही क्यों नहीं बन जाते। अपने को जाने बिना चाहे कितना ही, करणानुयोग चरणानुयोग, अरे ग्यारह अंग रट लेना, लेकिन कुछ सिद्धि होने वाली नहीं है, सारा अनुत्पादक श्रम है, थकान है, और काल थोड़ा है, अतः अपना कल्याण जिसमें है वह करो। गाथा है अष्टपाहुड़ में।

अन्तोणत्थि सुईण कालोथोवो वयं च दुम्मेहा।
तम्हा णवरि सिखियाणं जम्म मरणं क्षयं कुणइ।।

अर्थ – श्रुतियों (शास्त्रों) का अंत नहीं है काल थोड़ा है और हम दुर्बुद्धि हैं (अल्पबुद्धि हैं) इसलिए जल्दी से वह कला सीख लो, जिससे जन्म–मरण का क्षय हो।

(22)

पावभर के पात्र में सैर नहीं समाता

कैसा आश्चर्य है! एक ही समय में ज्ञान पर्याय का सर्वलोकालोक को जानने का अद्भुत स्वभाव है. फिर भी जीव अपने अनंत शक्ति के धारक आत्मा को नहीं जानता और पर्याय में प्राप्त ज्ञान के विकास को पाकर ऐसे अहंकार करता है ओह! कितना बुद्धिमान हूँ मैं। कितना बढ़ गया है मेरा ज्ञान, इस प्रकार उफन–उफन कर कहता है कि कितना ज्ञान है मुझमें। इसका सही अर्थ तो यह है कि वह अपने को उस ज्ञान के विकास के योग्य भी नहीं मानता तथा केवलज्ञान के तो अयोग्य मानता ही है। इस कारण प्राप्त ज्ञान की पूंजी सें न तो सम्यग्दर्शन का पात्र बन पाता और न केवलज्ञान का।

जैसे पाव भाव के पात्र में सैर नहीं समाता वैसे ही यह ज्ञान मद में मत्त होकर ऐसा बोलता है एवं अपने विशाल ज्ञान पुंज आत्मा की प्रतीति न होने के कारण थोड़े से ज्ञान के विकास में अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मेरा ज्ञान आशा से अधिक बढ़ गया है। अंग व पूर्व पढ़ गया हूँ और मान ढेर सारा मिल रहा है। मैं इस काबिल तो नहीं हूँ किन्तु अनायास देखो यह क्या हो गया? ऐसी आस्था के कारण उसे अहंकार उत्पत्र होता जाता है और उस अल्प ज्ञान में उसकी दृष्टि संकुचित हो जाने से वह उसे पच नहीं पाता, अतः सारा मिथ्या ज्ञान इकट्ठा हो मानो ज्ञेयों में फैलने लगता है इस तरह अनंतकाल ज्ञेय लुब्धता में बीत जाता है और स्वयं 'ज्ञान मात्र' स्वभाव के संचेतन से वंचित रह जाता है।

(23)

ध्रुव पर समर्पित श्रद्धा का सुहाग कभी फूटेगा नहीं

श्रद्धा की माँग को सारा विश्व मिलकर भी पूरा नहीं कर सकता, एकमात्र द्रव्य ही उसके सुहाग को अमरता का वरदान देने वाला है, सच्चाई यह है कि श्रद्धा के सुहाग को ध्रुव द्रव्य ही निभा सकता है। अरे! इसका दिया सुहाग कभी रुदन में नहीं बदलता, कभी फूटता-टूटता नहीं। वस्तुस्वभाव की दृष्टि से गुणों में अपना-अपना कार्य विभाजन है जैसे ज्ञान है, वह जानता है एवं श्रद्धा के विषय का निर्णय भी करता है, उस समय भी उसे दूसरा पक्ष स्वीकृत होता है, क्योंकि ज्ञान के विषय अनेक भी होते हैं और उसमें स्व-पर व मुख्य गौण की व्यवस्था होती है, लेकिन श्रद्धा में मुख्य गौण की पद्धति नहीं है, क्योंकि श्रद्धा का विषय सदा एक व पूर्ण व अखण्ड द्रव्य होता है,

बस! उसी पर सर्वस्व समर्पण होता है, उसकी दृष्टि में स्व-पर नाम की कोई चीज नहीं है, और उसे अपनी ही वस्तु में मुख्य गौण करना भी नहीं आता, क्योंकि यह विभाग पृथक् गुण का है, ज्ञान को यह कार्य संभलाया गया है, यदि श्रद्धा भी ज्ञान के कार्य को करने लगे, तो अहं का कार्य कौन करेगा और एक सबल युक्ति से देखें तो ज्ञान के द्वारा जाने गये सभी ज्ञेय श्रद्धेय हो जायेंगे, यह बड़ी बाधा उत्पन्न हो जायेगी। प्रथम अनुभूति से मोक्ष तक श्रद्धा की यह प्रतीति सतत् धारावाहिक चलती है, सिद्धों को भी यही प्रतीति होती है।

मोक्षार्थी! आत्मा की प्यास वाले को विचार भी आत्मा का ही होता है, जो जगत से थककर यहाँ आया है, ऐसे निकटवर्ती शिष्य को आचार्य कल्याण का मार्ग बताते हैं। एक बार अखण्ड और संपूर्ण में अपने उपयोग को टिका दो। ऐसे सम्यक्त्व के निकट को आत्मानुभूति की पूर्व भूमिका में, आत्मा के गुणों की महिमा पूर्वक समझाया जाता है जैसे जब हम पुण्यात्मा कहते हैं तो शुभ राग पर दृष्टि जाती है और जब दानी कहते हैं तो दान अर्थात् पैसे पर दृष्टि जाती है, ऐसे ही जब दर्शन-ज्ञान-चारित्र वाला कहते हैं तो गुणों के आधारभूत आत्मा पर दृष्टि जाती है इसलिए आचार्य यहाँ तक लाकर फिर अभेद की महिमा बताते हैं तो यह 'परमात्मद्रव्य' उसके हाथ में आ जाता है 'भगवान आत्मा' विशेषण भी दिया है, समयसार परमागम में। सचमुच आत्मद्रव्य तो सुमेरु गिरी है, पर्याय के नक्षत्र तो उसकी परिक्रमा करते हैं श्रद्धा द्रव्य से बिछुड़ी नहीं है विमुख हुई है, जब भगवत् देवता के साथ अभेद होकर बोलती है कि मैं तो अमर हूँ अरे! अब इसका सुहाग कभी फूटेगा नहीं।

(24)

'मणिदीप व तैलदीप

(ज्ञानी-अज्ञानी की परिणति)

उपयोगरूप परिणति में अर्थ-व्यापार क्षयोपशम-शक्ति के अनुसार होता है, अतः ज्ञानी और अज्ञानी की उपयोग-परिणति विकास-शक्ति के अनुसार पर विषय में व्यापार करते समय भले ही समान दिखाई दें और उससमय ज्ञानी की उपयोग-परिणति भले ही स्व को विषय नहीं कर रही हो, किन्तु ज्ञानी की उपयोग-परिणति में प्रतिसमय भेदविज्ञान की अतुल-शक्ति विद्यमान होने के कारण पर में व्यापार करते समय भी ज्ञानी की वह परिणति महान सामर्थ्यशालिनी है। जबकि अज्ञानी का ज्ञान भेदविज्ञान की सामर्थ्य के अभाव के कारण अत्यन्त क्लैव्यग्रस्त (नपुंसक) होने से पर को जानते हुए भी कुछ नहीं जानता; क्योंकि वह विपर्यय आदि दोषों से प्रतिसमय-आक्रान्त है मतिज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक सम्यक्-ज्ञान की जानने की रीति कम या ज्यादा विकास क्रम भेदपरक नहीं, स्व-पर, स्वभाव-विभाव, द्रव्य-गुण-पर्याय आदि का ज्यों का त्यों भासन ही तो सम्यग्ज्ञान है, कम जानना व अधिक जानना तो विकास की सामर्थ्य के अनुसार होता है, किन्तु जितना जाना जाये उसमें कर्त्ता, कर्म, कारण, कार्य, भिन्न-भावों के एकत्व आदि की भ्रांति न हो, वह ज्ञान ही 'सम्यक्' है।

अतः विकास की सामर्थ्य सीमित होने के कारण ज्ञानी का ज्ञान भले ही स्व-पर को एक ही समय में विषय न कर सके, किन्तु पर को विषय करते समय भी उसकी सामर्थ्य महान् है। जैसे रत्नों का पारखी कोई पुरुष जिस समय इमीटेशन-नगीनों को देख रहा है, उस

समय भी उसके ज्ञान में सच्चे और झूठे रत्नों की भेदज्ञान-सामर्थ्य विद्यमान है, जो एक ग्रामीण के ज्ञान में कभी नहीं है तथा सम्यग्ज्ञान जिस समय 'पर' को विषय कर रहा है, उस समय भी उसे शुद्ध-स्वतत्त्व का ही आलंबन प्रवर्तमान है और श्रद्धा पूर्ण रूप से स्व तत्त्व पर समर्पित हो चुकी है, कभी च्युत होने वाली नहीं। अज्ञानी को शुद्ध-तत्त्व के विकल्पों में अनंतबार प्रवर्तित होने पर भी कभी स्वतत्त्व का आलंबन ही नहीं है, क्योंकि यह आलंबन तो ज्ञान में स्वतत्त्व की प्रसिद्धि अर्थात् अनुभूति होने पर ही उदित होता है।

जैसे एक स्त्री कुछ समय के लिए पीहर जाती है और वहाँ माता-पिता, भाई-बहिन आदि के राग तथा पीहर के कार्यों में व्यस्त रहने से पुनः पुनः पति को याद भी नहीं करती; किन्तु क्या हम यह कह सकते हैं कि वह किसी भी क्षण पति को भूल गई है, वस्तुतः तो प्रतिक्षण पति का ही आश्रय और पति की ही सर्वोपरि-महिमा प्रवर्तमान होने तथा ससुराल और पति का भेदविज्ञान हर समय उदित रहने से वह कभी भी पति को भूली नहीं है, इसके विपरीत एक अल्पवय में विवाहित कन्या पति के निकट रहकर भी पति को नहीं जानती, वरन् परानुरोध से 'पति' को पति कहती है; क्योंकि पति के आलंबनपूर्वक (यह पति ही मेरा सर्वस्व है) उसने पति को जाना ही नहीं, अतः उसका ज्ञान अत्यन्त-दौर्बल्य-युक्त है।

और जैसे मणिदीप तथा तैलदीप में पदार्थों को प्रकाशित करने की अपेक्षा समानता दृष्टिगत होने पर भी सामर्थ्य की अपेक्षा महान्-अन्तर है; क्योंकि मणिदीप अंतःस्वभाव के अवलंबन के कारण निश्चल तथा महान्-सामर्थ्यशाली है, जब तैलदीप अंतःआत्मबल के अभाव में उस सामर्थ्य से सदा-शून्य है और यह अन्तर समान

दिखाई देनेवाले उनके प्रकाश में ही विद्यमान है। इसीप्रकार पर-प्रकाश के समय ज्ञानी तथा अज्ञानी का ज्ञान समान दिखाई देने पर भी एक के ज्ञान को सदा शुद्ध-ध्रुवतत्त्व का अवलंबन तथा एक को सदा ही सर्वथा-परावलंबन होने से उनकी ज्ञातृ-सामर्थ्य में भारी-अन्तर विद्यमान है।

(25)

मुझे मोक्ष जाना है यह भी कर्म की वासना है

मेरा शुद्धात्मा सर्व कर्म परिणाम से रहित अकर्मा तत्त्व है, ज्ञान के प्रकाश में कर्म के अंधकार का सर्वथा अभाव है, दोनों में परस्पर विरोध है, आत्मस्वभाव में सदा ज्ञान का ही भवन (परिणमन) होता है और जो शुभाशुभ कर्म है, उनमें कर्म (जड़ भाव) का ही परिणमन होता है ज्ञान व कर्म भाव के बीच बड़ी संधि है, ज्ञान सूक्ष्म छैनी है, ज्ञान ज्योति का जब आत्मा के असंख्यातप्रदेशी क्षितिज पर उदय होता है और वह यह नारा लगाता है कि हे कर्मो! मेरी सत्ता को छोड़ो, हे शुभाशुभ भावों, तुमने मेरे चैतन्य की सीमा पर साम्राज्य जमा लिया, लेकिन तुम तो फिरंगी हो, अन्य देश के हो, तुम यहाँ से विदा ले लो, नहीं तो यह ज्ञान का अस्त्र तुम्हारी धज्जियाँ उड़ा देगा ऐसा पौरुष जागता है।

सम्यग्ज्ञान स्वयं ही धर्ममय है और धर्म निष्कर्म होता है, शुभ कर्म तो कर्म है, मीठा जहर है, अज्ञानी कहो या द्रव्यलिंग की उच्च भूमिका, यहाँ भी कर्म ही कर्म सूझता है, धर्म के नाम पर इस घातक भाव शुभ का ही अवलंबन होता है। द्रव्यलिंगी मुनि को तो ऐसा ठपका दिया है कि मुनि होकर यदि शुभोपयोग परिणति के प्रेम में

फंसता है, तो तेरा संसार संकट निकट है क्योंकि इस कर्म की वासना से धर्म का जन्म नहीं होता।

करूँ–करूँ का स्थूल विकल्प जहाँ तक चित्त में, ज्ञान में चलता रहेगा, और मुझे कुछ करना है, अभी तक कुछ नहीं किया, अरे! सम्यग्दर्शन करना है और मोक्ष जाना है, इस कर्म की भयंकर वासना से भी सम्यग्दर्शन व मोक्ष नहीं होगा, बल्कि क्लेश व संसार अवश्य बढ़ जावेगा।

सर्व कर्म की वासना का विसर्जन होने पर 'मैं निष्कर्म तत्त्व हूँ', ऐसी श्रद्धा व ज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन का जन्म होता है, शुद्धात्मतत्त्व का अवलंबन भी कर्म है, परन्तु उसे अवलंबन (कर्म) का अवलंबन नहीं, निरावलंबी का अवलंबन लेते ही, सिद्धों जैसा निष्कर्म कर्म पैदा हो जाता है।

(26)

रे आत्मन ! ज्ञान के लोभ में तू खट्टी छाछ से भी जाएगा

ज्ञान इतना निष्पक्ष और ईमानदार तत्त्व है कि वह सर्व लोकालोक पर स्वयं को समर्पित कर देता है फिर भी विश्व के पदार्थों को ज्ञान से कोई शिकायत नहीं होती क्योंकि वह दूर रहकर उन्हें अपने भीतर चित्रित कर लेता है यही ज्ञान की अनूठी कला है, अतः समस्त पदार्थ निश्चिन्त रहते हैं और ज्ञान भी।

अरहंत परमात्मा का केवलज्ञान जैसे मात्र जानने का काम करता है चाहे वह सर्व प्रदेशों से जानता हो ऐसे ही छद्मस्थ का क्षयोपशम ज्ञान भी पदार्थ को ठीक वैसे ही जानता है इतना अवश्य है कि इसमें

इंद्रिय मनादि की निमित्तता होती है यह सापेक्ष ज्ञान कहलाता है अतः कोई भी विषय में प्रर्वत होते समय इन्द्रियादि का सहारा लेना पड़ता है। कारण कि क्षयोपशम ज्ञान की पर्याय की कमजोरी ऐसी ही है। लेकिन हमें इसकी कमजोरी वह हीनाधिकता पर किंचित् भी दीनता या खेद व्यक्त न करते हुए प्राप्त क्षयोपशम में पूर्ण रूप से सावधान हो जाना चाहिए और इस ज्ञान को सूक्ष्म व पैनी धार वाला बनाकर अपना प्रयोजनभूत कार्य, चैतन्य का दर्शन एवं अनुभवन शीघ्र कर लेना ही श्रेष्ठ है वरना चूक गए तो अन्य पर्यायों में इतने विकास की भी कोई गारंटी नहीं है इस वर्तमान प्राप्त क्षयोपशम में तत्त्व को समझा नहीं, तो हे आत्मन्! अधिक ज्ञान के लोभ में तू खट्टी छाछ से भी जाएगा।

अरे! लौकिक दर्शन व ज्ञान का विकास, सारा बेकार पड़ा रह जाएगा, यदि इसे अपने 'ज्ञायक भाव' पर केन्द्रित नहीं किया तो। ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि इसे हिताहित में प्रयोग कर प्रमाणिक बनाये शेष विशेष ज्ञान को कचरे में डाल दो उससे कुछ कार्य सिद्धि होने वाली नहीं है।

(27)

लज्जा विकार व परिग्रह का मूल है

'किंवदन्ती' - एक आदमी जंगल में नग्न रहता था। वहाँ के फल-फूल व पत्ते खाकर अपने को महा सुखी मानता था - वहीं उसका भ्रमण होता था, शरीर पर मिट्टी का लेप कर वह योग साधना में व्यस्त रहकर, अनेक लोगों के सम्मान का पात्र बन गया किन्तु उसके कुछ अनुयायियों ने उससे तन ढ़ँकने का आग्रह किया और

लज्जा को महा दोष बतलाते हुए वस्त्र धारण करने को कहा ज्योंहि उसके मन में लज्जा ने प्रवेश किया, तो उसने बिना सोच-विचार के तत्काल वस्त्र पहिन लिए और धीरे-धीरे अपनी संपूर्ण तपस्या का परित्याग कर अंत में विवाहादि करके पूरा गृहस्थ हो गया, गृहस्थ जीवन में अनेकों चिंताओं की चपेट से बहुत दुखी हो गया और तब उसे पुनः ध्यान आया कि इन सब दुखों व चिन्ता का मूल कारण तो लज्जा नाम का विकार ही है वही परिग्रह का मूल है। कवि मिल्टन ने भी कहा है, आदमी अकेला ही सुखी है।

(28)

द्रव्य तो मौनी बाबा है

द्रव्य व पर्याय एक ही पदार्थ के दो अवयव हैं, द्रव्य अविनाशी है एवं पर्याय नाशवान है, जो पदार्थ विश्व में है ही नहीं, वह उत्पन्न हो जाये, और जो सदा से है, उसका नाश हो जाये यह असंभव है।

द्रव्य सत् सदा निरपेक्ष है, नित्य है, वह कभी परिवर्तित नहीं होता बोलता भी नहीं, अपना नाम व गाँव नहीं बता पाता, इसके साथ पर्याय की व्यवस्था इसलिए कि पर्याय का काम द्रव्य का परिचय देना है, यदि दोनों ही ध्रुव हो तो दोनों मिलकर एक ही हो जायेंगे, फिर कोई कार्य होता हुआ नजर ही नहीं आयेगा नित्य बिना परिणमन नहीं होगा एवं परिणमन रहित नित्य सत् की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

जैसे - एक व्यक्ति सदा मौन रहता हो, तो उसका परिचय देने के लिए साथ में दूसरा व्यक्ति होना चाहिए, वैसे ही द्रव्य मौनी बाबा है, वह स्वयं तो बोलता ही नहीं, द्रव्य अन्वयरूप वही का

वही और पर्याय को व्यतिरेक कहा जाता है, एक के बाद दूसरी, तीसरी ऐसे द्रव्य की अनंत शक्तियों का परिचय पर्याय देती है, इसप्रकार प्रत्येक पदार्थ जड़ व चेतन के साथ पर्याय की सुन्दर व्यवस्था है।

ज्ञान की पर्याय का स्वभाव परिचय में विरुद्ध व अविरुद्ध देखा जाता है, वह पर्याय कहती है कि मेरी मौत हो गई, ऐसा द्रव्य के लिए कहती है, स्वयं के लिए नहीं, यदि स्वयं के लिए कहे तो वह समाप्त हो गई क्योंकि इसमें यह गर्भित है कि जब मैं अर्थात् पर्याय विनाशी हूँ तो उसके ऐसा मानते हुए भी कोई अविनाशी (द्रव्य) भी वहाँ विद्यमान है अर्थात् क्षणिक के समानान्तर ही कोई ध्रुव द्रव्य भी विद्यमान है - यह स्पष्ट संकेत पर्याय के परिचय से निकलता है, धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्य की तो पर्याय कभी विकारी होती ही नहीं, केवल जीव-पुद्‌गल द्रव्य में ही विकार होता है उनकी पर्याय भी द्रव्य का परिचय देती हुई ही उत्पन्न होती है, अतः उसमें प्रतिसमय परिणमन होना ही चाहिए। ज्ञानकी जो पर्याय शुद्ध-त्रिकाली अनादि-अनंत ध्रुवतत्त्व को जैसा है, वैसा स्वीकार न कर उसे अध्रुव, अशुद्ध अनुभव करती है, इसलिए वह परिणाम द्रव्य स्वभाव के विरुद्ध होने से मिथ्या है-सजा का पात्र है।

पर्याय नष्ट हो जाती है, क्षणिक है ऐसा होना बुरा नहीं, क्योंकि यह तो उसका स्वभाव है, लेकिन वह शुद्धात्मा को विपरीत (मिथ्या) ग्रहण करती है, यही उसका अपराध है, फलस्वरूप अनादि से कष्ट पा रही है, अतः पर्याय त्रिकाल में श्रद्धा के लायक नहीं है, श्रद्धा का विषय तो सदा मात्र त्रिकाली ध्रुव तत्त्व ही है।

(29)

'मिथ्या श्रद्धा से ग्रस्त ज्ञान स्पंदित नहीं हो पाता'

संपूर्ण लोक में मिथ्या श्रद्धा का सुदृढ़ साम्राज्य है और मिथ्या श्रद्धा से ग्रसीभूत ज्ञान कभी भी आत्मनिर्णय का पुरुषार्थ नहीं कर सकता, जैसे कई जैनेत्तर लोग देवी-देवताओं को नहीं जानते फिर भी उन पर अडिग श्रद्धा रखते हैं, इतना मात्र ही नहीं वे जैन धर्म के पालक भी कहलाते हैं लेकिन देवगुरु धर्म के शुद्ध स्वरूप को भी नहीं जानते और जानना भी नहीं चाहते, फिर भी अपने को वीतराग धर्म का आस्थावान घोषित करते हैं।

ऐसे ही जिन लोगों का ज्ञान मिथ्या श्रद्धा से मूर्छित है, उनको कितना ही सत्य समझाया जाए परंतु क्या सत्य है? और क्या असत्य? वे इस पर विचार तक नहीं करना चाहते, किसी मंत्र से मूर्छित व्यक्ति की तरह उनकी 'श्रद्धा' ज्ञान पर बुरी तरह से हावी रहती है तथा विशद क्षयोपशम वाले के सामने भी चाहे, सत्य को सतर्क प्रस्तुत किया जाए तो भी उनकी बुद्धि श्रद्धा का दास बन जाती है अतः ऐसी बुद्धि सम्यग्ज्ञान के अभाव में दुर्बुद्धि बनी रहती है। जैसे एक बीमार औषधि के गुण धर्म बिल्कुल नहीं जानता परंतु डॉक्टर पर पूर्ण विश्वास रखता है और उसी के निर्देशानुसार चलता है।

एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पूर्वाग्रहों से ग्रस्त श्रद्धा कभी भी ज्ञान को स्पंदित नहीं होने देती किन्तु जब ज्ञान श्रद्धा का साथ छोड़ देता है और स्वतंत्र होकर मैं शुद्धात्म तत्त्व हूँ ऐसी दहाड़ मारता है तो परद्रव्य व पर्याय में पड़ी श्रद्धा कंपित होने लगती है तत्काल ही द्रव्य में अहं कर लेती है और ज्ञान भी अपने इष्ट की उपलब्धि कर लेता

है इस प्रथम अनुभूति के क्षण में श्रद्धा, ज्ञान, चरित्र का यह अद्‌भुत त्रिवेणी संगम होता है।

(30)

सच्चा पुरुषार्थ

'काजल की कोठरी में रह कालिमा से कैसे बचे रहना'

विपरीत साधनों अथवा कारणों की अनुपस्थिति में तो प्रत्येक व्यक्ति साधु, व्रती, त्यागी, तपस्वी एवं धर्मात्मा बना रहता है किंतु वास्तव में सच्चा त्यागी वह है जो विपरीत कारणों की उपस्थिति में भी दृढ़ चित्त रहता है और रागादि से विमुख होता हुआ अपने आत्मिक पुरुषार्थ में वृद्धि करता जाता है।

ऐसा भी देखा जाता है कि थोड़ा ऊँचा वैराग्य आते ही व्यक्ति सीधा घर छोड़ने अथवा कोई बड़ा त्याग करने को प्रस्तुत हो जाता है किंतु कषायों व मोह को मंद कर उन्हें नष्ट करने की चेष्टा नहीं करता इसलिए तनिक बाधक कारण उपस्थित होते ही सत्ता में बैठी कषाय जागृत हो उठती है और उसकी हजारों लाखों वर्षों की तपस्या पर पानी फिर जाता है।

इसका स्पष्ट उदाहरण उपशांत कषाय गुणस्थानवर्ती महा निर्मल परिणामी जीव है उसको थोड़े समय के लिए मिथ्यात्व व कषाय दब जाती हैं, उपशमन हो जाता है, किंतु तनिक कारण उपस्थित होते ही उसके परिणामों में हलचल मच जाती है। कषाय पुनः जीवित हो जाती है, फलस्वरूप वह ऊपर उछली हुई बॉल के समान गुणस्थान से गिर जाता है।

एक धर्मात्मा वह जिसे कषाय के साधनों का संपर्क नहीं है और जो कषायों का स्वरूप समझ कर उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न भी नहीं करता तथा विपरीत साधनों का अभाव होने से स्वाभाविक ही जिसकी कषाय दबी हुई है ऐसा व्यक्ति तो कोरा धर्मात्मा होने का भ्रम कर बैठा है अरे! जहाँ काजल ही नहीं वहाँ काली क्या लगेगी?

एक व्यक्ति वह जो गृहस्थ जीवन में प्रवर्तित है तथा कषायों के स्वरूप को समझता है अपने गृहस्थ के आँधी व तूफान के बीच रहता हुआ भी तत्त्व विचार की छाया में शांतिपूर्वक जीवनयापन करता है ऐसा पुरुष प्रशंसनीय है पुरुषार्थी है क्योंकि काजल की कोठरी में रहकर कालिमा से बचे रहना ही सच्चा पुरुषार्थ है सचमुच अपने को धर्मात्मा मान बैठने वाले की अपेक्षा यह गृहस्थ श्रेष्ठ है।

(31)

मृत्यु तो नये जीवन का आमंत्रण पत्र है

मुक्ति के रथ पर आरुढ़ सम्यग्दृष्टि पुरुष को, यदि बैकुंठ से दूत के द्वारा ऐसा संदेशा भेज दिया जाए कि अब तुम्हारी आयु 3 दिन की शेष रह गई तुम्हें तैयार रहना है, अपने सब कार्य निपटा लेना, इस पर दूत से उसका शौर्य भरा जवाब क्या होता है कि हे दूत! जाओ कह देना उस बैकुंठराज से कि ''मुझे मौत की धमकी मत दो, मैं तो उस कुल में जन्मा हूँ जहाँ पैदा होते ही अजरता, अमरता की घूंटी पिलाई जाती है, शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि के मंत्र पढ़ाये जाते हैं और यह तो मेरे नए जीवन के लिए एक आमंत्रण पत्र भेजा है जिसे मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ।''

सच है मोक्षार्थी पुरुष का ऐसा साहसी हृदय होता है वह विश्व के

सारे पदार्थों को चुनौती देता है अरे अमर मरेगा क्या, तुम कितनी गहरी डाल रहे हो नींव। अरे तुम कितनी ही गहरी कब्र खोद लो लेकिन क्या–मेरे अमर अविनश्वर तत्त्व को कभी मिटा पाओगे? कुदरत के विधान में तुम्हारे सारे यत्न विफल कर दिए जायेंगे क्योंकि मेरी बस्ती तक तुम्हारी पहुँच ही नहीं है सचमुच मृत्यु ज्ञानियों के लिए एक करवट मात्र है।

मृत्यु पर काव्य की कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं, मौत का न्योता आने पर धर्मात्मा पुरुष कैसी चुनौती देते हैं।

''छाने छाने आती है, आती है वह आने दो,
जीवन की छत पर छाती है, वह छाने दो,
मेरे जीवन की छत है कुलीश की बनी,
आने दो नीच को, करिश्मा दिखाने दो।''

(32)

'सम्यग्दर्शन' कषाय व उपयोग से पृथक् परिणति है

कषाय की मंदता के साथ उपयोग का भी तदनुरूप जोड़ होता देखा जाता है, किन्तु इससे अंतर की विशुद्धि का अनुमान किंचित् भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि अंतर की विशुद्धि का संबंध सम्यग्दर्शन से है, और सम्यग्दर्शन कषाय की मंदता और उपयोग से पृथक् तत्त्व प्रतीति है वह तो निर्मल आत्म परिणति है, जिसका एकबार उदय हो जाने पर सिद्ध दशा तक भी अपनी सत्ता से सटकर, अहंरूप से प्रवर्तित होती रहती है। तथा कषाय की मंदता और उपयोग की तद्नुरूप प्रवृत्ति तो द्रव्यलिंगी को भी खूब दृष्टिगत होती है, परन्तु श्रद्धा तो एकदम उल्टी है, इस विपरीत अभिप्राय के कारण उसे पुण्य

परिणाम एवं तपादि बाह्याचार में हित बुद्धि है अतः अज्ञता पूर्वक किये गये उस परिणाम एवं क्रिया में प्रीतिवंत होने से उसके निरंतर मिथ्यात्व ही बढ़ता जाता है, फलस्वरूप, कर्म का विष वृक्ष बेरोक गति से फलता जाता है, वह कभी सूखने नहीं पाता।

(33)

'अरे विकल्प तो निरक्षर व्यक्ति के समान हैं'

विकल्प का जन्म आत्मा में होने पर भी वह अत्यंत पराया है यद्यपि वह अपने को शुद्धात्मा (मैं शुद्धात्म तत्त्व हूँ) ही कहता है किन्तु उसे शुद्धात्म तत्त्व की अनुभूति का अधिकार नहीं है अतः सदा ही उससे बाहर एवं दूर ही रहता है जैसे एक कन्या माता के गर्भ से ही जन्म लेती है फिर भी माता-पिता की दृष्टि में वह अत्यंत पराई हो जाती है यद्यपि वह माता-पिता के घर को अपना ही घर कहती है किन्तु वह पिता की संपत्ति पर उत्तराधिकार का अनुभव नहीं कर सकती, अतः पिता के घर को अपना कहने पर भी वह उससे एकदम बाहर एवं दूर ही है यही स्थिति आत्मा में पैदा होने वाले विकल्पों की है ये विकल्प तो निरक्षर अबोध व्यक्ति के समान हैं, जो शुद्ध चैतन्य की अनुभूति से सदैव शून्य रहते हैं।

तथा जैसे एक अपरिचित पुरुष को वह कन्या सदा के लिए अपना पति (स्व पुरुष) स्वीकार कर लेती है और उसे ही जीवन भर अपना स्व मान कर उस पर सर्वस्व अर्पण कर देती है उसी प्रकार अनादि से विस्मृत शुद्धात्म तत्त्व को 'श्रद्धा कन्या' अपना स्व स्वीकार करके इसी पर समर्पित हो जाती है समर्पण की पराकाष्ठा तो सचमुच ऐसी ही होती है।

(34)

'**कोमल आत्म संबोधन**' (समाधि के क्षणों में)

रे आत्मन्!

तू क्यों डरता है? जगत का कोई पदार्थ तुझे दुखी कर सके ऐसा बिल्कुल नहीं है, तू स्वयं पूर्ण, सुख से परिपूर्ण है तू जगत की किसी भी वस्तु से अपने सुख की आशा क्यों रखता है और जब पर से तुझे सुख अथवा दुख नहीं है तो तुझे पर में हर्ष या शोक अथवा राग या द्वेष करने का क्या कारण? बस तू इतना समझ कर आचरण में उतार, तो जैसा वीतराग पूर्ण सुख से परिपूर्ण तेरा स्वरूप है वैसा तुझे अवश्य प्रत्यक्ष अनुभव होगा।

वस्तु के स्वरूप बिना कहाँ जायेगा? तेरी सुख शांति वस्तु में से आती है या बाहर से? तू जिस किसी भी क्षेत्र में जा किन्तु तुझे तो अपने में ही रहना है, तेरा सुख स्वर्ग से नहीं आना है, तू कभी किसी काल अथवा किसी क्षेत्र में अपने से अलग नहीं हो सकता, मात्र अपने स्वभाव के अदर्शन से दुखी हो रहा है।

ज्ञानी कहते हैं कि तू अपने को पहिचान।

मैं आत्मा –

नित्य एक रूप मेरा स्वभाव !

पूर्ण ज्ञान आनंद मेरा स्वरूप!!

स्वभाव का ज्ञान यही मेरा कर्तव्य!!!

स्वभाव की निर्मल दशा यही मेरी सहजता।।

अज्ञानी देह के वियोग को मरण कहता है

ज्ञानीस्वभाव के गुणों के घात को मरण कहता है।

ओ शान्तमूर्ति –

अन्तरात्मा! तू अपने से प्रसन्न रह/कोई अन्य तुझे प्रसन्न रखेगा ऐसी व्यर्थ आशा छोड़ दे।

तू स्वयं अपने को पूर्ण स्वरूप की सीमा में नहीं लाता तो अन्य ज्ञानी, पर तुझे क्या देंगे? जिनको किसी के प्रति राग अथवा द्वेष नहीं है उनसे लेना भी क्या है और–जो राग और द्वेष भाव से तड़फ रहे हैं वे बिचारे दूसरों का क्या हित करेंगे? इसलिए ऐ सहज पूर्णानन्दी अंतरात्मा! अपूर्णता छोड़, जगत स्वयं में पूर्ण है तू अपने द्वारा अपने पूर्ण स्वरूप में आ जा, शीतल ज्ञानभाव से तू भरपूर है बाह्य वृत्ति से उल्लास हटा, इस डोलन की वृत्ति को छोड़। हे शुभ भावनाओं! तुमने अशुभ का स्थान तो भर दिया, पर अब मुझे तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं है, 'मेरा स्थान तो तुम्हारे से ऊपर अति पवित्र है' – बस मैं तो अपने ज्ञायक भाव में समा जाना चाहता हूँ। तुमसे भी मैं भाव–निवृत्ति लेता हूँ।

हे पूर्व कर्मों! तुमने भी अब सत्ता में रहना बंद कर दिया है उदय में आना चालू किया है तो यह भी तुम्हारा उपकार है कि मुझे तत्काल छूट जाने में सहायक बन रहे हो, कारण कि तुमसे भिन्न अपना स्वरूप मैंने जान लिया है।

हे चेतन! बाह्य जंगल अथवा वन में भी शान्ति नहीं है अतः अन्तर्स्वरूपी जंगल में सहज ज्ञानानन्द रूपी घन की श्वास लेकर अनुभूति कर स्वाधीन हो जा, बाह्य कहीं स्वाधीनता नहीं मिलेगी। संसार में रहकर इष्ट संयोग अथवा अनिष्ट संयोग के प्रति तू हर्ष शोक

के परिणाम रखता है तो क्या अपने में अशरण, संसार, भावना को प्रबल रूप से भाकर परम आनंदमय नहीं बन सकता?

ऐसी प्रतीति हो तो एक स्वभाव से ही जितना रस लेना हो उतना पूरा ले लो तो उसमें कभी कोई कमी होने वाली नहीं ऐसा दृढ़ विश्वास करके अपने में क्यों नहीं समाता। तेरा अनंत काल व्यतीत हो जाएगा। हे आत्मन्! आधि, व्याधि उपाधि से रहित, सहज समाधि रस, निर्विकल्प स्वभाव में सदा के लिए समाधिस्थ हो जाओ, जहाँ शांति शांति-शांति-बरस रही है।

(35)

भावश्रुतज्ञान-केवलज्ञान का उत्तराधिकारी है

दोनों के अनुभव में समानता - भावश्रुतज्ञान, अतिशय सामर्थ्य युक्त, महाशक्तिशाली निर्मलज्ञान है। समयसार परमागम की 143 गाथा की टीका में भावश्रुतज्ञान को केवलज्ञानी के समकक्ष बिठाया है। श्रुतज्ञान नयात्मक व परोक्ष ज्ञान कहा जाने पर भी आत्मानुभव के काल में इसकी प्रत्यक्षता में कोई बाधा नहीं आती, अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष, मनातीत कहा है-यह भी आत्मा का अनुभव ठीक उसीप्रकार करता है स्वाद भी ठीक वैसा ही लेता है, जैसा केवली परमात्मा।

जैसे - एक अंध मनुष्य शक्कर को प्रत्यक्ष देख नहीं पाता, किन्तु स्वाद पूरा पूरा वैसा ही लेता है, दूसरा चक्षु वाला मनुष्य शक्कर को देखता भी है एवं स्वाद भी लेता है, उसी प्रकार केवलज्ञानी भी आत्मा के असंख्य प्रदेशों सहित अनंत गुणमय सत्ता का दर्शन करते हुए उसका स्वाद लेते हैं।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, अपने भावश्रुतज्ञान से अंध की भाँति

प्रदेशों का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं करता किन्तु उसके श्रद्धा व ज्ञान सम्यक् हो जाने के कारण आत्मा का अनुभव ठीक उसी प्रकार करता है स्वाद भी वैसा ही लेता है जैसा केवलज्ञानी। दोनों में अनुभव की अपेक्षा किचिंत् भी अंतर नहीं है क्वान्टिटी कम या अधिक हो किन्तु क्वालिटी में किंचित् अन्तर नहीं है।

समयसार की 320 गाथा में भी आचार्य जयसेन लिखते हैं कि जैसे क्षायिक ज्ञान ऐसा अनुभव करता है कि – मैं सकल निरावरण, अखण्ड, एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय निजकारण द्रव्य हूँ, ठीक ऐसे ही एकदेश ज्ञान, श्रुतज्ञान भी ऐसा ही अपने अल्पज्ञान में अनुभव करता है, इसमें केवलज्ञान बीज पड़ा है कैवल्य का अंश कहते हैं, वह इस अपेक्षा कि इसमें से केवलज्ञान का विस्फोट होने वाला है विस्फोटक ज्ञान है। अष्ट सहस्त्री में इसका प्रमाण आया है कि केवलज्ञान की तरह श्रुतज्ञान भी सर्व तत्त्व को प्रकाशने वाला है, मात्र प्रत्यक्ष परोक्ष का अंतर है।

जैसे – एक निर्धन बालक दीपक के प्रकाश में पढ़ता है और एक धनिक बालक ट्यूब के प्रकाश में पढ़ता है किन्तु ज्ञान में जो विद्या का ग्रहण होता है, और दोनों को परीक्षा में एक ही स्थान पर बिठाया जाता है, दोनों ही प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं बताओ क्या अंतर रहा? केवली परमात्मा अपने केवलज्ञान से अपने ही आत्मिक सुख का भोग करते हैं एवं भावश्रुत ज्ञानी भी अपने पूर्ण अखण्ड आत्मिक सुख का ही भोग करते हैं इससे सिद्ध है कि दोनों के अनुभव में तनिक भी अंतर नहीं है, अरे! केवलज्ञान का उत्तराधिकारी यही ज्ञान है इस भावश्रुत को ही केवलज्ञान का मुकुट पहनाया जाता है।

यदि इस भावश्रुत के अंश से पूछा जाय कि केवलज्ञान किसे

मिलेगा तो यह साहस से कहता है मुझे। क्यों ? अरे ! वह अपनी वर्तमान परिणाम की सामर्थ्य को देखकर केवलज्ञान का निर्णय कर लेता है।

(36)

वीतरागता के उद्घाटन में पुण्य की विदाई

शुद्धात्मानुभूति सम्पन्न पुरुष पाप भाव को तो अपनी सीमा से बाहर मानता ही है परंतु आगे की श्रेणियों में उत्तरोत्तर, वृद्धिंगत होता हुआ पुण्य भाव होने पर भी उसे प्रतिक्षण हेयत्व के स्थान पर रखता है क्योंकि उसका लक्ष्य मुक्ति है। फिर भी ऐसा उच्च कोटि का विशुद्धि वाला शुभ भाव ही उसको वीतरागता में निमित्त बनता है, किंतु मुक्ति के लक्ष्य विहीन अकेला शुभ भाव आत्मा का हनन ही करता है, इसलिए वह उपादेय कैसे हो सकता है ? ये शुभादि भाव बलात् हटाने से नहीं हटते, किन्तु शुद्धोपयोग के क्रमिक समरसी परिणाम से ये भाव स्वतः ही नष्ट होते हुए सलामी देकर चले जाते हैं, वह कहते हैं कि ऐसे पवित्र स्थान पर जाने का हमें अधिकार नहीं है।

जैसे एक समझदार लड़की विवाह के पश्चात् माता-पिता के घर को हेय समझने पर भी उससे विदा होने पर बहुत रोती है, और माता-पिता भी अत्यन्त पराई होने पर भी लड़की की विदाई में बहुत रोते हैं, इसी प्रकार हेयत्व वर्तने पर भी ज्ञानी को पुण्य-पाप भाव एवं उनके फल में हर्ष-विषाद होते हैं और जैसे लड़की माता-पिता के घर को अपना और माता-पिता-लड़की को अपना कहते हैं, किन्तु मानते नहीं, इस प्रकार ज्ञानी पुण्य-पाप एवं संयोगों को अपना कहते

हैं, किन्तु तनिक भी अपना नहीं मानते – जैसे विवाह होने पर ही लड़की को घर से विदा किया जाता है उसके पूर्व विदाई करना महा मूर्खता है। उसी प्रकार बारहवें गुणस्थान में वीतराग भाव का उद्घाटन होते ही पुण्य भाव की सदा के लिए विदाई हो जाती है।

(37)

विकल्प व विचार में अंतर

आत्मा की अनुभूति के काल में विकल्प तो रह सकते हैं किन्तु विचार नहीं; क्योंकि आत्मानुभव की पूर्व दशा में ज्ञान स्वलक्ष्य पूर्वक, विचारों की सहज भूमिका में प्रवर्तमान होता है, और उत्तरोत्तर सूक्ष्म व घन होता हुआ आत्मा के निकट पहुँच जाता है अंत में ज्ञान के सूक्ष्म विचारों का जाल भी थमकर, ज्ञान निर्विचार रूप होकर शुद्धात्मा के निर्विकल्प अनुभव में तन्मय हो जाता है, इस प्रकार स्वरूप में एकाकार निश्चल वृत्ति को शुद्धोपयोग, स्वसंवित्ति, निर्विकल्प समाधि ब्रह्मानंद आदि नाम से पुकारा जाता है, इस समय विकल्प का अस्तित्व भले ही हो – लेकिन वे तो अपनी भिन्न कक्षा में चुपचाप पड़े रहते हैं सर्व विकल्प सुख–दुख की अनुभूति से शून्य है एवं किंचित् साधक–बाधक भी नहीं है।

ग्रन्थराज नयचक्र में भी इसका उल्लेख आया है –

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा।।

– गाथा 266

तत्त्व के अन्वेषण काल के समय तो युक्ति–नय प्रमाणादि के विचार प्रवर्तित होते हैं, लेकिन आराधना के समय अर्थात् अनुभव के

काल में नय प्रमाणादि के विचार सर्वथा अस्त हो जाते हैं, विलीन हो जाते हैं उसी क्षण ज्ञान निर्विचार दशा को प्राप्त होता हुआ, पच्चक्खो अणुहवो – आत्मा का पच्चक्खो – प्रत्यक्ष संवेदन करता है।

इस प्रकार आत्मानुभूति के पूर्व आत्मा के अन्वेषण [खोज] के समय ठीक ऐसी ही प्रकिया चलती है अर्थात् सविकल्प दशा में ज्ञान आत्मा संबंधी विचारों में घूमता है, महिमा पूर्वक अनंत गुणों के अनंत विचारों की लंबी नय कक्षा चलती है, क्योंकि आत्मा की प्राप्ति का उत्साह बहुत है विकल्पात्मक आनंद भी है, लेकिन वहाँ राग का ही जन्म होता है – एक शुद्ध द्रव्य के संबंध में जैसे मैं शुद्ध हूँ, ध्रुव हूँ, अकर्ता हूँ, निष्क्रिय हूँ, अपरिणामी हूँ – इत्यादि अनंत विचार प्रवर्तित होते हैं, विचारों में उसे स्वज्ञेय का लक्ष्य छूटता नहीं है तथा विचारों में रुकता भी नहीं है यह सब उपेक्षित भाव से चलते हैं, इनका तनिक भी कर्तृत्व नहीं, क्योंकि कृतकृत्य दशा निकट आने वाली है अतः प्रचंड पुरुषार्थ द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों का प्रवाह भी थम जाता है मन का अवलम्बन भी सर्वथा छूट जाता है और भावश्रुतज्ञान निर्विचार, निर्विकल्प होकर आत्मा के साथ एकाकार होता हुआ आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है वहाँ एकमात्र चिन्मात्र चिद्रूप ही भासने लगता है।

वहाँ आंनद का वेदन भी पर ज्ञेय कक्षा में है। जैसे हम भोजन करते हैं तो उसके पूर्व अनेक प्रकार के विचार तरंगित होते रहते हैं लेकिन जब भोजन का पहला ग्रास मुँह में जाता है, तो सारे विचार समाप्त होकर भोजन के मधुर स्वाद व आनंद में ही लीन हो जाता है, कैसा बना? खट्टा है या मीठा – कुछ भी सोचने का अवकाश नहीं। ठीक ऐसे ही अनुभव दशा में चिंतन का उफान शांत हो जाता

है और उपयोग, स्वरूप के ध्यान में एकाग्र हो जाता है, स्वरूप विश्रांति की इस दशा में ब्रह्मानंद का कोई अपूर्व रस झरता है जिसे वह स्वयं ही चखता है सचमुच! अनुभव की ऐसी ही वचनातीत दशा होती है।

(38)

शुद्धता की चरमावधि

नित्य त्रिकाल शुद्ध अखंड आत्म द्रव्य को साधन बनाये बिना पर्याय की शुद्धि कभी नहीं हो सकती, शुद्धि तो वास्तव में स्वभाव के आश्रय से ही होती है, क्योंकि पर्याय सदैव द्रव्य में से प्रगट होती है, पर्याय-पर्याय में से कभी नहीं आती, अतः जब तक पर्यायवान के शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा एवं ज्ञान न हो, तब तक पर्याय शुद्ध क्यों हो?

चाहे शुभ विकल्प से अशुभ विकल्प टलते देखे जाते हैं और उसे, अशुभ की अपेक्षा शुद्ध कहा जाता है किन्तु शुद्ध निश्चय, भूतार्थ तत्त्व की अपेक्षा तो शुभ भी बंध का ही कारण है, संसार की वृद्धि करनेवाला है ऐसे व्यवहार का आश्रय तो अभव्य भी कर लेते हैं। मुनि-लिंग धारण कर शरीर के खण्ड-खण्ड हो जाये तो भी ओह न करें इतनी कषाय की मंदता। फिर भी देह व शुभाचार की एकत्व बुद्धि नहीं छोड़ पाता, अतः वर्षों की तपस्या के पश्चात् भी पर्याय की शुद्धि नहीं होती, क्योंकि द्रव्य स्वभाव एक ओर और असंख्य प्रकार का शुभाचार व सारा क्रियाकाण्ड एक ओर! यदि एक क्षण के लिए भी राग के स्थान पर ज्ञायक को लाकर बिठा दे - तो कल्याण में विलम्ब नहीं हो, यही है शुद्धता की चरमावधि!

(39)

दान एक सहज व उदार मनोवृत्ति

दान इस सृष्टि का एक कुदरती नियम है, जो व्यक्ति की कठोर भावनाओं को भी मोम सा पिघला देता है एवं उसे नियंत्रित करता हुआ संचित धन के स्रोत खोल देता है सचमुच तो परिणति के साथ ज्यादती भी नहीं तो परिणति के साथ लिहाज भी नहीं, ऐसी संतुलित परिणति का नाम त्याग है।

धन एक प्राकृतिक (पौद्‌गलिक) तत्त्व है प्रकृति प्रतिबंध नहीं चाहती, वरन् उन्मुक्त वायुमण्डल चाहती है जो उसे प्रतिबंधों में रखता है वह (धन) उसकी दुर्दशा कर देता है लक्ष्मी के इशारों पर नृत्य करने वाले लक्ष्मी के सेवक बने फिरते हैं, अंत में ऐसे परिग्रही की भयंकर दुर्दशा होती है। जैसे षट् रस व्यंजन तैयार करके खाये न जावे तो अत्यन्त व्यर्थ है उसी प्रकार संचित धन का दान में विसर्जन न किया जाय, तो वह निरर्थक ही है, पुण्योदय से उत्पन्न धनराशि को यदि किसी सत् स्थान या सत्पात्र में दे दिया जाता है, तो वह उतना ही सुरक्षित रहता है और वही भवांतर में कई गुना होकर फलता है, किन्तु जितना भोगों में लगाया जाता है, वह समूल रूप से नष्ट हो जाता है और भवान्तर के लिए कोई अवकाश ही शेष नहीं रहता बल्कि भोग के फल में स्वयं निंद्य दुर्गति का पात्र बन जाता है।

लोक में भी एक आश्चर्य है बादल सागर से पानी लेकर अपने पास नहीं रखता, वरन् पुनः सागर व सृष्टि को समर्पित कर देता है, इसी प्रकार महान पुरुष सृष्टि के धन को अपने पास नहीं रखते वरन्

पुनः सृष्टि को सौंप देते हैं और जैसे अपना पानी बादल को देकर सागर अपनी पानी की संपत्ति को खो नहीं देता, वरन् कई गुना बादल से वापस पा लेता है इसी प्रकार दान से कुछ खोया नहीं जाता वरन् नियम से कई गुना पाया जाता है जैसे – लिये हुए हर श्वास को यदि दबा लिया जाय और बाहर नहीं निकाला जाय, तो इसके फल में निश्चित मृत्यु होगी। इसी प्रकार प्रकृति प्रदत्त संपत्ति को दबाकर रखने में नर्क व निगोद के असह्य कष्ट फलित होंगे ही।

सचमुच दान के साथ कोई कृत्रिम भावों का आवरण नहीं होता वह तो एक, सहज, उदार प्रसन्न मनोवृत्ति है जो समय के साथ, उत्कृष्ट मार्दव भाव को लेकर उदित होती है जिससे मानस व गृहस्थाश्रम पवित्र व प्रशांत बना रहता है बस यही दान का मधुरिम फल होता है।

(40)

'मैं तो निर्वेश हूँ'

सचमुच! सम्यग्दृष्टि पुरुष निरन्तर ऐसा संचेतन करता है कि मैं तो सर्ववेश रहित निर्वेश तत्त्व हूँ, मेरा चैतन्य तो नग्न दिगंबर मुनि है, उसका कोई वेश नहीं। सर्व स्वांगों से दूर जिसका असंख्य प्रदेशी अमूर्तिक भवन है वहाँ उसका वास है वेश तो परिग्रह है और ज्ञानी को परिग्रह नहीं होता, क्योंकि वह निरवांछक दृष्टि वाला है मुझे मोक्ष जाना है, यह दृष्टि परिग्रह से लिप्त है, स्वांग है बदलने वाले, आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये अनेक वेश मेरी निर्वेश आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकते, मोक्ष जैसी सुन्दर शुद्ध पर्याय का चोला भी यदि आत्मा पहन ले तो उसका वेश बदल जायेगा वह

निर्वेश नहीं रह पायेगा, सच्चाई तो यह कि मुक्ति का वेश भी उसे स्वीकार नहीं क्योंकि आत्मा का मोक्ष होता ही नहीं – सदा–सदा जो मुक्ति का वरदान लेकर आया है उस मुक्त की मुक्ति कहना, उनके निर्वेश स्वरूप पर बड़ा प्रहार है, अपरिणामी पर–परिणाम को बिठाते हो, यह द्रव्य के पवित्र स्वरूप के लिए बड़ा कलंक है।

(41)

समस्त कर्मकाण्ड बालू का ध्वस्त भवन है

कर्मकाण्ड अथवा शुभाचारप्रिय व्यक्ति का कर्मकाण्ड के अभाव में चित्त नहीं लगता और वह प्रतिसमय बैचेन बना रहता है, अतः वह किसी न किसी बाह्य साधन की तलाश में निरन्तर व्यग्र व खिन्न रहता है, उसके अंतर में शुभ साधनों या भोजनादि क्रियाओं के विकल्प इस तरह हावी हो जाते हैं कि उन ढेर विकल्प जालों से उपयोग छूटकर आत्म–सन्मुख नहीं हो पाता। एक ओर भूल क्या होती है कि पुण्य के साथ क्रिया को जोड़ देने के कारण पुण्य कठिन लगता है अन्यथा पुण्य तो मात्र प्रशस्त आत्म परिणति है और आत्मा की होने के कारण आत्मा के लिए उसका होना कठिन नहीं क्योंकि चैतन्य की ओर उपयोग का झुकाव होने पर स्वतः ही शुभ भाव का वायुमण्डल तैयार हो जाता है। दूसरा पुण्य परिणति होने पर क्रिया तो स्वतः ही उसका अनुगमन करने लगती है अतः क्रिया का आग्रह उपादेय नहीं। शुभभाव में धर्म बुद्धि का पाक्षिक–जीव समान रूप से जड़–क्रियाओं का ही पक्षपाती है अतः संभाल परिणाम की करो, क्रिया की नहीं, क्योंकि एक पर आत्मा का अधिकार है और दूसरा क्रियायें उसके अधिकार क्षेत्र के बाहर हैं।

इस संबंध में ज्ञानी का चिंतन कैसा होता है? आत्म रसिक सम्यग्दृष्टि तो स्वभाव की सन्मुखता के बल से अन्य सभी बाह्य सामग्री के अभाव मे भी मात्र शुद्धात्म तत्त्व की महिमा में चित्त को रमाता हुआ आनन्दित रहता है।

अरे! समस्त कर्मकाण्ड को 'बालू का ध्वस्त भवन' जानता हुआ उससे सदा विमुख ही रहता है एवं इस शुभाशुभ के व्यापार को बंध की संतान जानता हुआ, इनसे प्रीतिवंत नहीं होता है क्योंकि उसे अपनी सत्ता का ही वर्चस्व हर क्षण वर्तता है।

(42)

पवित्रता के संचेतन में पवित्रता का अनुभव

जैसे एक प्रतिष्ठित बड़े परिवार का एक सदस्य अनाचारी होकर घर से निकल जाये एवं उस सदस्य के अनाचार से हमारा तो संपूर्ण ही कुल कलंकित सा हो गया, ऐसे संचेतन में उन परिजनों को कुल ही कलंकित लगता है और अपार वेदना होती है, किन्तु जब उस सदस्य को, परिवार से भिन्न मानकर, सोचे कि चरित्र तो उसी का बिगड़ा है यह कुकर्म उसी का है हम तो पवित्र ही हैं, ऐसे पवित्रता के संचेतन से कुल पवित्र ही अनुभव में आता है अतः यह प्रसन्नता अविराम चलती रहती है।

इसी प्रकार रागादि की अपवित्र पर्याय को आत्मा का ही अवयव मानकर द्रव्य-पर्याय की अभेद अनुभूति करने पर आत्मा अशुद्ध ही अनुभव में आता है - फलस्वरूप तीव्र आकुलता होती है।

इसके विपरीत यदि ऐसा विचार किया जाय कि विकार तो पर्याय ने किया है, अतः वही विकारी है विकार के बीच भी में तो सदा शुद्ध

व पवित्र ही हूँ अपवित्र नहीं; इस प्रकार पर्याय को द्रव्य से भिन्न जान लेने पर एक मात्र शुद्धता ही अनुभव में आती है और आनंद का वेदन निर्बाध (अखंड) रहता है, इस अत्यन्त सरल विधि में, पवित्रता के संचेतन से परिणाम में पवित्रता का ही अनुभव होता है। 'पर्याय में द्रव्य का ही बड़प्पन हो' आत्मा की पर्याय चाहे कितनी ही महान, अर्थात् सिद्ध क्यों न हो जाए, तो भी द्रव्य के ही बड़प्पन का अनुभव करती है, जैसे पुत्र चाहे कितने ही ऊँचे पद पर चला जाये, किन्तु वह पिता को ही महान मानता हुआ, उनका हृदय से सदा सम्मान करता है, उनके बड़प्पन का ही अनुभव करता है, स्वयं का नहीं।

(43)

'भक्त हो तो ऐसा'

'अरहन्त के पहिले सिद्ध बनने को उतावला'

अरहंत का भक्त कंगला एवं दरिद्री तबियत का नहीं होता! अरहन्त ऐसे भक्त से प्रसन्न नहीं होते वरन् अंध श्रद्धालु पुरुषार्थ का नपुसंक भक्त अरहन्त एवं उसके शासन पर भार बन, उसे कलंकित करता है, ठीक इसके विपरीत अरहंत का प्रगाढ़ आस्थावंत सच्चा भक्त प्रसन्नचित्त व विशाल हृदय वाला होता है, जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित जिनश्रुत की असीम श्रद्धा उसके भीतर सदैव वर्तती है। अपने शुद्ध चैतन्य के प्रति प्रीतिवंत व उत्साही चित्त होता है अकर्मण्य व निरुद्यमी नहीं होता, ऐसे भक्त पर ही अरहन्त को गर्व होता है, जो मोक्षमार्ग में कूच करता हुआ अपने चरम लक्ष्य 'मुक्ति' का वरण कर लेता है, जिसकी साधना (रत्नत्रय) की पूर्णता साध्य (मोक्ष) की प्राप्ति में ही होती है, बीच की श्रेणियों में वह विश्राम नहीं पाता,

क्योंकि उसका हौसला (पुरुषार्थ) इतना मजबूत होता है कि वह सफलता का चुंबन करके ही विराम लेता है। लोक में भी हम देखते हैं कि एक प्रोफेसर को ऐसे विद्यार्थी पर गर्व होता है जो स्वयं प्रोफेसर से सूक्ष्म तर्क करता है एवं अपनी शिक्षा शीघ्र समाप्त करके उच्च पदस्थ होने के लिए सदा उद्यमी व उतावला रहता है आलसी व उद्यमहीन विद्यार्थी प्रोफेसर को बदनाम करता है वह कभी सफल नहीं हो सकता, इसी प्रकार अरहन्त का भक्त अरहन्त की शरण का अभिलाषी नहीं होता बल्कि उनका अवलंबन भी छोड़कर अरहन्त देव से पहिले सिद्ध बनने को उतावला होता है।

(44)

भाव बंध सर्व अनर्थों का मूल है

अरे! निसंदेह चेतन तो मात्र ज्ञाता द्रव्य जानन शक्ति का धारक परम पदार्थ है। परवस्तु के वर्तन के साथ वर्तन करना इसका स्वभाव नहीं, परवस्तु के साथ वर्तन करना, यही अध्यवसान रूप, भाव बंध रूप मोटा पाप, मिथ्यात्व है और यही अध्यवसान राग, द्वेष रूप भाव संसार के बंध का मूल कारण है क्षणिक पर्याय की प्रीति के कारण व किंचित् साता से यह जड़ शरीर सुखी दिखता है तो कहता है मैं सुखी और जब शरीर अपना रूप बदल लेता है उसमें रोगादि हो जाये तो कहता है मैं दुखी! इस प्रकार जड़ के आधीन हुआ अपने त्रिकाल स्थिर स्वभाव को छोड़कर यह आत्मा बिना पेंदे का लोटा सा बना हुआ है।

कभी पुण्य करके स्वर्ग जाना चाहता है या देव बनकर तीर्थंकर भगवान के समवशरण में जाना चाहता है किंतु अपने भीतर जो

भगवान बैठा हुआ है उसके पास नहीं जाना चाहता। मात्र इस किंचित् पुण्य को तू धर्म कहता है, किंतु हे आत्मन्! आत्मा के स्वभाव को लूटकर जो दशा प्रकट होती है, वह धर्म नहीं है, अधर्म है-बाह्य वस्तु तो वास्तव में रज है, धूल है, अरे! यह जीव रज में, धूल में सुख की तलाश करता है, शुष्क बालू में से तेल निकालना चाहता है।

जैसे संसार में जो व्यक्ति बात का पक्का नहीं होता, झूठ बोलता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता, फिर यह मिथ्यादृष्टि आत्मा तो प्रतिक्षण बात पलटता है, एक बात पर कभी टिकता ही नहीं, क्षणिक पर्याय की पलटन के साथ अपनी मिथ्या मान्यता को पलटता रहता है-सचमुच यह भाव बंध ही भव का मूल है झूठा प्रलाप है सर्व अनर्थों की जड़ है।

(45)

'जमीन-आसमान जैसा है, एकत्व व विकल्प'

एकत्व और विकल्प में जमीन आसमान का अंतर है, क्योंकि दोनों का डिपार्टमेंट बिल्कुल न्यारा न्यारा है, आत्मा में राग-द्वेष रूप विकल्प का होना दूसरी बात है-यह चारित्र गुण की पर्याय का विकारी परिणमन है, जिसे हम शुभाशुभ भाव की संज्ञा देते हैं और पर में एकत्व की बुद्धि (मान्यता) यह पृथक् दोष है, जो मूल में ही भूल है, ज्ञान में विपरीत अभिनिवेश को 'एकत्व' और श्रद्धा के विपरीत, मिथ्या परिणमन को 'ममत्व' कहा जाता है। लेकिन अनादि की द्रव्य स्वभाव संबंधी इस भूल का निवारण कैसे हो ? अरे! क्षण मात्र में हो सकता है, जब प्रबल भेद ज्ञान द्वारा जगत के प्रत्येक पदार्थ की स्वाधीन परिणति व स्व योग्यता का सम्यक् निर्णय हो जाता है कि

उनमें कर्तृत्व व परिणमन की चेष्टा विफल है, ऐसा यथार्थ परिज्ञान होते ही पर से दृष्टि हटकर शुद्धात्मा में केन्द्रित हो जाती है एवं उसका स्व–सन्मुख पुरुषार्थ जाग उठता है, फलस्वरूप अनादि से चला आया एकत्व व ममत्व पलायन कर जाता है।

फिर ज्यों–ज्यों स्व सत्ता में पुरुषार्थ का बल बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों पर्याय का विकार विकल्प भी नष्ट होते चले जाते हैं और पूर्ण निज स्वरूप में विश्राम अर्थात् वीतराग दशा प्रकट हो जाती है 'अनुभूति के क्षणों' पर काव्य की पंक्तियाँ पूज्य बाबूजी द्वारा –

स्वरूप का बोध हुआ जिस क्षण,
हो गए स्तब्ध वचन, मन, तन
ज्ञान अंतर में एकाकार,
राग का होने लगा संहार
हुआ जिस क्षण स्वरूप विश्राम
वही है वीतराग परिणाम

(46)

सर्वज्ञवत् सम्यग्दृष्टि भी राग का ज्ञाता ही है

जैसे सर्वज्ञ अपनी भूत की राग पर्याय के ज्ञाता मात्र है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी अपनी भूत, भविष्य और वर्तमान की राग पर्याय का ज्ञाता मात्र है कर्ता नहीं है। ज्ञान में ज्ञेय बनकर राग की, पर्याय आती है और चली जाती है, किन्तु ज्ञान तो एकरूप ही रहता है ज्ञान में राग पर्याय, ज्ञेय बनकर आने से ज्ञान कभी विकारी नहीं होता है जैसे दर्पण में किसी काली वस्तु का प्रतिभास होने से दर्पण काला नहीं हो जाता, वह तो निर्मल ही रहता और पदार्थ का यथारूप प्रतिभासित

होना ही दर्पण की निर्मलता है, उसी प्रकार राग अथवा वीतरागता का यथा–रूप प्रतिभासित होना ही ज्ञान की निर्मलता है तथा जैसे दर्पण अपने में किसी पदार्थ की पर्याय को लाता नहीं है और छोड़ता भी नहीं, किन्तु सामने वाले पदार्थ की पर्याय का दर्पण में प्रतिभासित होना, यही निर्मल दर्पण का स्वभाव है, इसी प्रकार ज्ञान, राग को लाता नहीं अथवा छोड़ता भी नहीं, किन्तु ज्ञेय बनने योग्य राग को यथारूप जानना यही ज्ञान का स्वभाव है ऐसी अवस्था में स्वपर के विविध परिवर्तन को जानते हुए भी ज्ञान निर्मल दर्पण की भाँति एक रूप ज्ञाता ही बना रहता है तथा जैसे मैले दर्पण में पदार्थ यथार्थ भासित नहीं होते, उसी प्रकार जीव के सदोष ज्ञान में मोह का पक्ष, स्वरूप का भ्रम व पर से एकत्व बुद्धि, पड़ी होने से, उसे विश्व का हर पदार्थ जिस द्रव्य गुण पर्याय में स्थित है वैसा भासित नहीं होता, किन्तु ओर का ओर भासित होता है। जैसे नेत्रों पर लाल काँच लगाकर देखने से सभी पदार्थ लाल और काले काँच के साथ सभी काले भासित होते हैं, किन्तु पदार्थ लाल व काले नहीं हो जाते, इसी प्रकार ज्ञान के साथ मोह का पक्ष किसी पदार्थ के संबंध में अच्छा व बुरा – ऐसी विपरीत कल्पनाएँ किया करता है इस कारण उसे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप भासित नहीं होता – बल्कि ओर का ओर दिखाई देता है मोह की इस उन्मत्तता में एवं अपने परिणामों की छाया में अज्ञ प्राणी जगत को देखता है, तो पदार्थ जैसा है वैसा दिखाई नहीं देता, इसलिए सत्य है कि अज्ञानी के ज्ञान का विश्व में कोई विषय ही नहीं है, नितान्त झूठा निःसार विकल्प है। सचमुच – विकल्प का ज्ञाता मात्र है, लेकिन मिथ्यादृष्टि ज्ञाता नहीं रह पाता, इसलिए विकल्प के कर्तृत्व से हैरान व परेशान रहता है और सम्यग्दृष्टि ज्ञातृत्व दृष्टि का आनंद लेता हुआ मस्त रहता है।

(47)

ज्ञानी कर्म की गोदी में नहीं खेलता

जैसे जो लोग अग्रेजों को अपना शासक मानते थे, उन देशवासियों की सारी ही चेष्टायें अंग्रेजों के इशारों पर होती थीं किन्तु जिन्होंने परतंत्रता के बीच अपने को स्वाधीन अनुभव किया, वे अग्रेजों के इशारों पर न चलकर उनका विरोध करते रहे, ठीक इसी प्रकार अज्ञानी कर्म की शासन व्यवस्था में उनके इशारों पर चलता हुआ अपने को धन संपत्ति परिवार व ऐश्वर्य से रंजित, रंगा हुआ, मानता है एवं इनके फल में उत्पन्न सुख व दुःख से अपने को सुखी व दुखी–मात्र कल्पना में मान लिया करता है इस प्रकार वह कर्म की गोदी का खिलौना बना रहता है एवं उनसे घिरा हुआ अपने को अनुभव करता है और निरन्तर अत्यंत असह्य, आकुलता का भोग करता है।

इससे पृथक् 'कर्मोदय के चकव्यूह में ज्ञानी का चितंन....

तत्त्वदृष्टा ज्ञानी तो कर्मोदय के भीषण घटाटोप में भी अपने निष्कर्म, कर्म शून्य चैतन्य की गहरी गुफा में प्रविष्ट होकर आजादी की साँस लेते हैं।

उस समय उनका एक ही नारा होता है, 'मैं मुक्त तत्त्व हूँ, मेरे किले का हर प्रदेश मुक्त–मुक्त है कर्मों तुम तो फिरंगी हो मेरी सत्ता को छोड़ो।''

ऐसा कर्मोदय से विपरीत पुरुषार्थ होता है, ज्ञानी शूरवीर पुरुषों का! वह कभी कर्म की गोदी में नहीं खेलता।

(48)

ज्ञान की वज्र सीमा पर अस्ति–नास्ति धर्म तैनात है

ज्ञान आत्मा का असाधारण लक्षण है, ज्ञान की प्रत्येक पर्याय मात्र जानन भाव रूप है एवं सदा से ज्ञान का यह जानन स्वभाव 'निरपेक्ष व अहेतुक होने से स्वतःसिद्ध है। ज्ञान के इस सहज क्रम में जब कोई भी पदार्थ विषय बनता है तो उसका कारण ज्ञान की स्वच्छता ही है न कि पदार्थ, क्योंकि ज्ञान की एक ही पर्याय में सामान्य व विशेष ये दो धर्म [भाव] समाहित होते हैं, लेकिन अज्ञानी को सदैव विशेष [ज्ञेयाकार] की प्रीति पड़ी होने से, वह क्या करता है? कि वहीं चल रहे ज्ञान के सतत सामान्य, अखण्ड भाव को छोड़कर मात्र ज्ञान में बनने वाले विशेषों (ज्ञेयाकारों) को ही ममत्व दे बैठता है और उसका यह ममत्व महा मिथ्यादर्शन अर्थात् स्थूल पाप का ही रूप है, क्योंकि अपने ही विशेषों से ममत्व का फल भी वहीं है, जो परद्रव्य व पर भाव से ममत्व का है।

सच्चाई यह है कि मेरे ज्ञान में पर–पदार्थ जानने में आता है, ऐसा पर–पदार्थ को जानने वाला अपने को मानता है, ऐसी श्रद्धा में उसने, आत्मा में विद्यमान अस्ति–नास्ति धर्म की मिट्टी पलीत कर दी जब कि वास्तव में ज्ञान की कार्य मर्यादा पर विचार करे तो वह अपने चतुष्टय को छोड़कर बाहर जाता ही नहीं आत्मा त्रिकाल स्व–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्ति रूप रहता है और पर के द्रव्य क्षेत्र काल भाव से सदा नास्ति रूप रहता है।

ज्ञान में मुझे पर पदार्थ दिखाई देते हैं यह कैसे हो सकता है? क्योंकि वस्तु की व्यवस्था ही ऐसी है कि एक पदार्थ की दूसरे से

अत्यन्त नास्ति है बल्कि अत्यन्ताभाव है जब अस्ति और नास्ति दोनो धर्म आत्मा में साथ रहते हैं और उनकी वज्र सीमा का उल्लंघन करके कोई ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो सकता यदि एक का दूसरे में प्रवेश होने लगे तो नास्ति धर्म की व्यवस्था ही खतरे में पड़ जाएगी। और सृष्टि में चेतन व अचेतन द्रव्यों के समस्त गुण व धर्म अपनी-अपनी सत्ता को छोड़ने को तैयार हो जायेंगे, शक्कर अपनी मिठास और अग्नि उष्णता को छोड़ अन्य में मिल जायेंगे। ऐसे इस नियम से वस्तु का ही सर्वनाश हो जाएगा, सचमुच हर वस्तु की ठोस बॉर्डर पर अस्ति नास्ति, धर्म सैनिक की तरह तैनात है इस संविधान की छाया में आत्म निर्णय के लिए ज्ञान की मीमांसा करें तो अनेक ज्ञेयाकारों में एक अकेले ज्ञान सामान्य की अनुभूति ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की जनक है।

(49)

'अरे ओ! छलिया भक्त'

जो शुद्धात्म तत्त्व की चर्चा सुनने के लिए हमेशा समय के अभाव का बहाना बनाता है और कहता है कि काम इतना है कि मरने की भी फुर्सत नहीं है, वह जीव भगवान का बैरी है, क्योंकि वह कर्मरत है, और भगवान निष्कर्म है अत: उसे भगवान की परम शांत निष्कर्म अवस्था पसंद नहीं है, दूसरे रूप में वह एक ऐसा छलिया है जो अपने भीतर अगणित अभिलाषायें लेकर बैठा है, उनकी पूर्ति न होने पर भगवान से द्वेष कर बैठता है, उसके चित्त में कभी सरस, कोमल, विशुद्ध भाव का प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिए भगवान के सामने मुक्ति पाने की उसकी बातें अकेला छल है और वह भगवान का विरोधी है।

भगवान के स्वरूप से अनजान भक्त कैसा होता है उसके लिए कुछ काव्य पंक्तियाँ लिखी थीं –

जीवन भर ही अरे भक्ति रस में अवगाहा,
किन्तु भक्त भगवान रूप को समझ न पाया,
अरे बाह्य के चाकचिक्य में ऐसा उलझा,
भीतर था भगवान और बाहर से पूजा,
कहता है भगवान अरे! क्यों नहीं रीझते?
बीत गये युग पूजा में क्यों नहीं सीझते?.
किन्तु अरे ओ! छलिया क्या यह तुझे ज्ञात है
पूजा करते तुझे विषय का व्याल डस गया,
तुम्हें जानकर जग तुमसे अनजान रह गया।

अरे! सच्चा भक्त तो वही है, जो भगवान से मुक्ति की कला सीखकर स्वयं भगवान बन जाता है। सचमुच! आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम ही सिद्ध परमात्मा है।

(50)

भयानक वन में सीता का अर्न्तनॉद

'ध्रुव भाव' अचल संपत्ति के समान है, उसके आश्रय से परिणाम में निर्भयता आती है और क्षणिक भाव की दृष्टि में हर समय उसके वियोग की भयंकर चिंता बनी रहती है अतः ध्रुव ही विपत्ति काल में हमें संभाल सकता है, अरे देखो! भयानक वन में तप्त शिला पर बैठी सीता स्व स्वभाव की निर्भयता पूर्वक यह विचार करती है कि मैं तो त्रिकाल परिपूर्ण घन वस्तु हूँ यही मेरी फौलादी आधार शिला है मैं तो इसी पर स्थित हूँ जगत में किसी का कोई संबंधी है ही नहीं, संबंध में बंधना तो रागवृत्ति है।

इस वृत्ति का कोई आधार भी नहीं इसलिए स्वप्नवत् झूठ है, क्षण में ढह जाने वाली बालू की दीवार है और मेरा ज्ञान तो अकंप निष्कंप शक्ति के आधार पर टिका है। अत: यही मेरा विश्राम का स्थल बन सकता है।

अरे! लौकिक जनों के अधम शब्द, बाह्य संयोग, तीव्र धार युक्त कर्म चक्र और यह देहादि सब कुछ पुद्‌गल का कुटुंब कबीला है मेरे चैतन्य महल में तो सर्वत्र चेतना ही चेतना की झंकार सुनाई देती है इसके अंदर अनंत गुणों की प्रजा केलियाँ किया करती है। ऐसा यह चैतन्य राज कितना उदार व गंभीर है, शांति का निकेतन है, शांति शोधने के लिए मैं कहाँ जाऊँ? मेरी सारी दुविधा को हर लेने वाला विश्व में एकमात्र देवता यही है अरे! यही शरण्य है जो मुझे शाश्वत शांति का साम्राज्य देने वाला है। देखो! ऐसा निशंक चिंतन प्रत्येक ज्ञानियों का होता है अरे! चाहे जंगल हो या राजप्रासाद चैतन्य की भावना व अनुभूति की शीतल बहारों में ही जिनका चित्त अठखेलियाँ किया करता है। मोह के कच्चे संबंध सूत्रों से दूर, निर्बंध स्वभाव की श्रद्धा का बल इतना प्रबल हो जाता है कि उनकी साधना, साधनों के लिए नहीं तरसती, बल्कि वे तो अग्नि की धधकती ज्वाला के बीच भी कैवल्य की शीतल धारा में गोते लगाने लगते हैं वाह रे वाह! धन्य हैं वे धीर धर्माराधक पुरुष।

(51)

एक ही आवश्यक कर्तव्य है सम्यग्दर्शन

श्रोता – सर्वप्रथम करने योग्य आवश्यक कर्तव्य क्या है?

बाबूजी – अकेला-अकेला करने योग्य कार्य 'आत्म दर्शन

करो' अन्य के प्रति कुछ भी किया जाने वाला कर्म अकिंचित्कर है, उससे अब बस हो 'ओ! बस हो' ओ! वह कुछ भी फल दे सकने में समर्थ नहीं। देखो! श्रावक के षट् कर्म को पहले नहीं रखा क्योंकि यह आवश्यक नहीं, बल्कि अनावश्यक है। हे आत्मन्! यह तो तूने अनंत बार किये, लेकिन फिर भी तेरे कष्टों का अंत नहीं हुआ संसार बढ़ता ही चला गया। अरे! सर्वसिद्धि प्रदाता सम्यग्दर्शन में तो, इनके लिए कोई स्थान ही नहीं है। उसे तो आज तक जीव पा नहीं सका, ऐसा भव का शोषण करने वाला कीमती रत्न सम्यग्दर्शन है और इसकी विधि के षट् प्रकार नहीं होते एक ही प्रकार की है। जैसे दुनियाँ के अरबों लोग खाना मुँह से ही खाते हैं, ऐसे ही आत्म-दर्शन, नाना विधि वाला नहीं, एक ही विधि व विधान वाला है।

(52)

अरे! आकाश कुसुमवत् है हर विकल्प

मैं राष्ट्र का उपकार करता हूँ - देश की रक्षा कर सकता हूँ - पर जीवों को दुखी-सुखी कर सकता हूँ, मेरे उपदेश से लाखों लोगों का कल्याण होता है, ऐसे असंख्यात प्रकार के विकल्प मिथ्या होने के कारण 'आकाश कुसुमवत्' है, इनका जगत में कोई विषय ही नहीं है, न ही इसकी साकारता होती दिखती है यदि इसका एक विकल्प भी सत्य हो, तो उस विकल्प की अर्थ क्रिया भी हो सकती है, और अर्थ क्रिया अनुसार उसका विषय भी विद्यमान होना चाहिए, किंतु जो विकल्प ही मिथ्या हो उसका विषय ही क्या? और यदि विषय हो और वह हमें हमारी इच्छा के अनुरूप प्राप्त हो जाए तो ऐसा अभिप्राय मिथ्या नहीं कहला सकेगा, अतः यह निरि

विकल्प सर्वथा जड़ है तथा जड़ की ही क्रिया होने से आत्मा का धर्म कैसे हो सकता है? इससे फलित होता कि एकत्व बुद्धि रूप अध्यवसान नितान्त मिथ्या ही है और क्षणिक मिथ्यात्व का फल भी अनंत संसार है। जड़ व चेतन की परिणति अत्यन्त न्यारी-न्यारी है लेकिन चेतन का उनके स्वतंत्र परिणमन में हस्तक्षेप एवं कर्तृत्व महा मूर्खता है।

(53)

समयसार का समयसार को प्रणाम

समयसार को प्रणाम मस्तक झुकाकर नहीं, अंजुली बाँधकर भी नहीं पंच महाव्रत व मुनिलिंग द्वारा भी नहीं, बल्कि 'समयसार' का अपने भावश्रुतज्ञान में अवतरण हो जाना ही 'समयसार का समयसार को प्रणाम' है; सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के विकल्पों को तोड़कर 'मात्र समयसार' रूप ही मैं हूँ। ऐसा आत्मा समयसार स्वरूप होता है। उसके मन मंदिर में सदा के लिए समयसार प्रतिष्ठित हो गया है चैतन्य देव समयसार की यह भावात्मक अनुभूति ही ग्रंथराज समयसार को सच्चा प्रणाम है।

इससे अलग ओर कोई समयसार शब्दात्मक, वचनात्मक, पौद्गलिक वस्तु नहीं। अरे! चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, चारों ही गतियों के सम्यग्दृष्टि की परिणति में बिना पढ़ें समयसार उतर आया। उनके द्वारा समयसार को अनंत काल तक प्रणाम होता रहने वाला है, सचमुच वे समयसाररूपी कलश में भरे अमृत का निरंतर पान किया करते हैं। अतः उन आत्मदर्शियों का सारा ही जीवन समयसार की छाया में व्यतीत होता है।

(54)

अज्ञानी की भक्ति से स्वर्ग की चर्बी ही बनती है

अहो! सम्यक्त्व गुणमयी रत्न का प्रकाश प्रगट होने पर सम्यक्त्वी साधक को सदैव आत्मिक गुण ग्रहण का भाव ही अपेक्षित रहता है तथा रागादि (विकार) की सदा-सदा के लिए उपेक्षा हो जाती है कारण कि वह पर के षट्कारक से अपने को अत्यन्त अस्पर्शी मानता है, अतः उसी क्षण विकार खिसक जाता है और पर्याय में निर्मलता प्रगट हो जाती है। बस! कारण पर्याय को निर्मल करने की एकमात्र यही विधि है, जिसे अज्ञानी, कोटि वर्षों तक जप-तप व भगवान की भक्ति करके भी नहीं कर पाता, बल्कि इसके विपरीत ऐसा देखा जाता है कि उस भक्ति में भी वह पुण्य का संचय न कर पाप का ही बंध कर लेता है क्योंकि उसने भगवान की वीतरागता को देखकर अपने वीतराग स्वभाव को न तो देखा, न हि समझा, सच्चाई यह है कि भगवान तथा उसके बीच में तो राग की दीवार खड़ी हुई है, इसलिए उसका नमस्कार भी राग को ही पहुँचता है - जैसे रोगी व्यक्ति जो भी पौष्टिक पदार्थ खाता है। उसकी चर्बी ही बनती है और बीमारी बढ़ती ही जाती है, इसी प्रकार कदाचित् अज्ञानी की भक्ति से किंचित् पुण्य इकट्ठा हो भी जाय, किंतु उसे स्वर्ग की चर्बी ही बनती है न कि रत्नत्रय का उत्तम रसायन।

(55)

जैन दर्शन उन्नत मार्ग की प्रेरणा देता है न कि पतन की

आगम में जहाँ-जहाँ पुण्य को छोड़ने के लिए उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया गया हो, तो वहाँ उसका यह अर्थ कैसे हुआ कि पाप

करने के लिए कहा गया है – ऐसा अभिप्राय तो एकदम दुष्टात्माओं का ही होता है, जो आगम को साक्षी न बनाकर उसमें से पतन का ही रास्ता ढूढ़ते है और दोष आगम एवं आगम वेत्ता ज्ञानियों पर लगाते हैं, किन्तु वीतराग जैन दर्शन पतन की प्रेरणा कैसे दे सकता है, इसका मंगल संदेश तो वीतरागभाव की उन्नत भूमिका को प्राप्त करना होता है, न कि पुण्य को छोड़, पतित हो, उन्मार्ग में चले जाना। जैसे नौका में विहार करने वाले यात्री को नौका छोड़ने का अर्थ घर पहुँचना होता है, नदी में उतरकर मरना नहीं। ऐसे ही पुण्य के निषेधरूप कथन का दृष्टिकोण, पाप में प्रवर्तन कर स्वच्छन्द होना नहीं। जहाँ वास्तव में पुण्य सदा के लिए समूल ही छूट जाना है सचमुच वहाँ निश्चित ही पूर्ण वीतराग भाव का पदार्पण हो गया है, जो कि पुण्य छोड़ने का एक मात्र प्रयोजन था। इसके आगे पुण्य को जाने का अधिकार भी नहीं है, वह तो सेल्यूट करके चला जाता है कहता है कि उन योगियों की पवित्र बस्ती में मेरा प्रवेश निषिद्ध है इस प्रकार एक समय मात्र में आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप में निखर उठता है।

(56)

सम्यग्दर्शन एक निर्विकल्प स्वच्छ दृष्टि है

सचमुच! सम्यग्दृष्टि सतत भेदविज्ञान की भावना में वर्तन करता हुआ, शरीर एवं अन्य पदार्थों के बीच रहता हुआ भी अपने को सर्वथा अलग-थलग ही अनुभवता हो, लेकिन फिर भी सम्यग्दृष्टि के रागादिपने को देखकर हम उसके सम्यक्त्व में भी शंका कर बैठते हैं कारण कि आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुणों के बीच जो मौलिक अंतर है, उसे नहीं समझने से ही यह उलझन खड़ी हो जाती है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है, विविध रागात्मक प्रवृत्ति के काल में भी सम्यक्त्व

का सद्भाव शक्य है जैसे विविध अभिनय करते हुए अभिनेता को अपने वास्तविक स्वरूप की प्रतीति सदैव रहती है इसी भाँति।

पुनः प्रश्न हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि को राग क्यों होता है – ऐसा प्रश्न तो उसे उठता है, जिसे साधक अवस्था का परिज्ञान नहीं है राग और वीतरागता द्विरूपता से ही साधक अवस्था बनती है और यहीं से चारित्र का क्रमिक विकास होकर मुक्ति होती है, किन्तु जो सम्यग्ज्ञान होते ही कैवल्य चाहते हैं तो वे बीच की दशाओं को नहीं चाहते, ऐसी स्थिति में पंचम, षष्टम् आदि गुणस्थान नहीं बन सकेंगे। अर्थात् मोक्षमार्ग का क्रम ही भंग हो जाएगा।

अतः सम्यग्दर्शन तो एक स्वच्छ दृष्टि है, जिसका विषय एक मात्र शुद्ध शुद्ध शुद्धात्म तत्त्व है वह दृष्टि स्वयं में निर्विकल्प है, उसमें शुद्धाशुद्ध का विकल्प भी नहीं है शुद्धाशुद्ध का विकल्प चारित्र के क्षेत्र में आता है और शुद्धाशुद्ध का परिज्ञान ज्ञान के क्षेत्र में। अतः रागादि विकल्पों के काल में भी ज्ञानी की दृष्टि रंच मात्र भी विकृत नहीं होती। जैसे अभिनय में भिक्षावृत्ति करता हुआ राजा पुनः पुनः यह स्मरण नहीं करता कि 'मैं राजा हूँ' किन्तु 'नृपत्व' की अखण्ड प्रतीति भिक्षावृत्ति के काल में भी निरन्तर चला करती है; और उसे इस बात का भी सम्यक्–बोध है कि यह वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, ठीक ऐसे ही ज्ञानी की निर्मल परिणति अपने परमात्म–द्रव्य से सटकर सतत् चलती रहती है, इसमें संदेह का का कोई अवकाश नहीं।

(57)

'अरे पाकर खोया भगवान' यह कैसी विडम्बना

सृष्टि के जड़ चेतन समस्त पदार्थों में अनंत शक्तियाँ त्रिकाल

विद्यमान होती हैं और उन शक्तियों का उनके अनुरूप हुबहू, ज्यों का त्यों परिणमन भी देखा जाता है, उस परिणमन से यह अनुमान हो जाता है कि यहाँ अवश्य कोई गुण या शक्ति विद्यमान है। यदि त्रिकाल शक्ति ही न हो तो उसकी व्यक्ति (कार्य) भी नहीं देखी जा सकती, जैसे बिजली के तार में करंट सदैव मौजूद रहता है – लेकिन उसके साथ कनेक्शन जोड़ने पर बल्बादि में उसके प्रकाश की प्रगटता होती है और यदि कनेक्शन नहीं जोड़ा गया तो शक्ति पड़ी होने पर भी उसकी कोई कीमत नहीं।

ऐसे आत्मा में दिव्य शक्तियों की सुगंधित पुष्प वाटिका खिली है, उसकी स्वीकृति के बिना पर्याय में शक्ति का परिणमन नहीं होता, फलस्वरूप आकुलता बनी रहती है, और हमारे प्रयोजन की सिद्धि भी नहीं होती, अतः शक्ति का सम्यक् परिणमन हो अर्थात् पर्याय में उसकी व्यक्तता होना यही शक्ति की सर्व महान उपयोगिता है। हे आत्मन्! ऐसे अनंत शक्तिमय भगवत् देवता को पाकर भी तूने उसे खो दिया – यह कैसी विडम्बना है।

(58)

प्रथम आत्मदर्शन में मुक्ति खिल उठती है

अहो! आत्म–प्रासाद अनंत शक्ति सुमन के अनंती वातायन से भरा है, जिसमें प्रवेश कर ज्ञान जैसी अनंत ही पर्यायें अपने स्वामी 'कारण परमात्मा' के अनंत वैभव को देखती है, जिसके दर्शन मात्र से अनंत शक्तियों का अनंत आनंद पर्याय के एक–एक प्रतिच्छेद में उछलने लगता है, प्रथम आत्म दर्शन में ही ऐसा आनंद का ज्वार आता है, जिसकी तुलना लोक के रिद्धि, सिद्धि धारी विमानों से भी नहीं

की जा सकती, वह स्व–सता में निशंकता पूर्वक वर्तन करता है, उस सुखानुभूति में ऐसा लगता है कि मेरे भव का ही अंत हो गया है यद्यपि अभी भव शेष है, भव का पूर्णान्त तो आत्मा में पूर्ण स्थित होने पर होगा, फिर भी उसका संसार सूख ही चुका है 'गोखूर' मात्र रह गया, जो कि शुद्धोपयोग की एक फूँक में उड़ जाने वाला है। शुद्धात्म द्रव्य को समर्पित परिणति, स्व तत्त्व की ओर अभिमुख होने से, वह प्रतिक्षण मुक्ति की ओर गमनशील है, मुक्तिपुरी का ही वासी हो गया, क्योंकि स्वरूप स्थिरता की वृत्ति निरन्तर वृद्धिगत होने से इसी धरती पर ही उसकी मुक्ति खिल उठती है।

जैसे माँ के वियोग में एक बालक प्रतिपल विह्वल रहता हुआ रुदन करता है, किन्तु माँ के मिलने पर, उसके दर्शन मात्र से, उसकी गोदी में पहुँचने से पूर्व ही, उसके तीव्र रुदन व वेदना का अंत हो जाता है, यद्यपि अभी आँसू बह रहे हैं और रुदन का अंत भी गोदी में पहुँचने पर ही होगा, फिर भी आनंद के अतिरेक में बालक को ऐसा लग रहा है कि जैसे मेरे समस्त दुख का अंत हो गया है। सम्यग्दर्शन की भी ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि उसमें भव व भव का भाव दिखाई ही नहीं देता बल्कि भव कटते हुए स्पष्ट दिख रहे हैं और मुक्ति दौड़ी चली आ रही है।

(59)

समग्र शुभ विकल्प शून्य (0) का ढेर है

देखो! व्यवहार मार्ग की सहज प्रक्रिया ऐसी होती है। जैसे एक यात्री को नौका से, रोगी को औषधि से, विद्यार्थी को पुस्तक, स्कूल व अध्यापक से 'अनुराग' तो होता है, किन्तु ममता नहीं होती, उसी

प्रकार 'साधक' को दया, दान पूजादि, व्रत समिति आदि शुभ राग रूप बाह्य साधनों से अनुराग तो होता है, किन्तु ममत्व नहीं होता और जैसे यात्री नौका से, रोगी औषधि से, विद्यार्थी पुस्तक और अध्यापक से चिपट जाय और ममता कर बैठे, तो वह अपने लक्ष्य तक कभी नहीं पहुँच पायेगा, उसी प्रकार 'साधक' शुभ राग व उसके बाह्य साधनों से यदि चिपट जाय तो उसका निश्चित पतन ही होगा, वह कभी भी मुक्ति [लक्ष्य] के सर्वोच्च स्थान को प्राप्त नहीं कर पायेगा तथा जैसे यात्री को नदी से, रोगी को रोग से एवं विद्यार्थी को कुसंग से जरा भी अनुराग नहीं होता वह उन्हें त्याज्य ही जानता है ठीक ऐसे ही 'साधक' को पाप के निंद्यनीय साधनों में किंचित् भी अनुराग नहीं होता।

सचमुच देखा जाय तो संपूर्ण ही शुभाचार रूप व्यवहार का प्रयोजन मात्र इतना ही है कि 'साधक' जीव को मोक्षमार्ग में क्रमशः आने वाली भूमिका का सच्चा ज्ञान कराना। किसी विशिष्ट परिस्थिति व संयोग में उस मोक्षमार्गी की परिणति में शुभाशुभ भावों का तापमान प्रायः घटता-बढ़ता सा दिखाई देता है उसकी ज्यों की त्यों, पूरी जानकारी लेने के लिए हमें व्यवहार के कार्यालय की आवश्यकता होती है, इससे वस्तु का हुबहू परिचय मिल जाता है, बस इतनी व्यवहार की उपयोगिता है, किन्तु इसकी दुर्बलता भी इतनी है कि यह हमें उस वस्तु की प्राप्ति व अनुभव कराने में सर्वथा असमर्थ है असंख्य प्रकार के यम, नियम, व्रत, महाव्रत के उत्कृष्ट शुभ विकल्प भी निर्जल, सुख शून्य पुद्गल का ही परिवार है। शून्य [0] का ढेर है, इसमें से 'एक बूँद शांति का अमृत मिलने वाला नहीं है।'

शांति का केन्द्र स्थल तो शुद्ध चैतन्य, अमर, अभय तत्त्व है, जो कि निश्चयनय व शुद्धनय का विषय है। शुद्धनय जब उसकी अनुभूति

करता है तो '0' शून्य की कीमत इस 'एक सम्यग्दर्शन' के अंक से चौगुनी हो जाती है, उसमें प्राण आ जाते हैं, इसलिए परमार्थ द्वारा व्यवहार का निषेध होता है प्रमाद द्वारा नहीं। ऊँचाई पर ले जाने की बात है, पतित होने की नहीं तथा व्यवहार का पक्ष कर बैठे तो महा मिथ्यात्व का ही पोषण होगा।

अतः ज्ञानी तो समस्त व्यवहार के व्यापार से उदासीन व आत्मा में आसीन होते हैं, उनके श्रद्धा में निर्ममत्व भाव ज्ञान में हेयत्व व चारित्र में मध्यस्थपना प्रवर्तित होता है अतः वे एक दिन पूर्ण वीतरागता की श्रेणी में पहुँच कर मुक्ति का साम्राज्य ले लेते हैं।

(60)

'तत्त्व की विजय - विकल्प की पराजय'

आत्मज्ञानी पुरुष को भी गृहस्थाश्रम में अनेक कार्य संबंधी विकल्प उठते हुए देखे जाते हैं किन्तु जब उनके अनुसार तो कार्य नहीं होता वरन् उसके विपरीत कार्य होता हुआ दिखता है तो उस समय उसे तत्त्व की ही विजय होती हुई दिखाई देती है अतः तत्संबंधी न ही कोई खेदखिन्नता न ही कोई आकुलता! क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु की शक्तियों के निश्चित परिणमन को जान चुका है और उसे ज्ञान में यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि विकल्प में और कार्य में जमीन-आसमान का अन्तर है, अतः विकल्प के अनुसार कार्य होना भी क्यों चाहिए और विकल्प के अनुसार यदि किंचित् कोई कार्य होता दिखाई दे, तो उसका वस्तुपरक चिंतन यह होता है कि कार्य अपनी मर्यादित स्व सीमा में, तत्समय की योग्यता व अपनी उपादान सामग्री से ही हुआ है, न कि विकल्प के कारण। ऐसा हम

प्रत्यक्ष देखते हैं कि हजारों विकल्प के बाद भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः इन तुच्छ विकल्पों की पराजय ही होती है और तत्त्व की विजय।

(61)

ज्ञान का आकार ज्ञान का ही शुद्ध उत्पादन है

अनंतानंत पदार्थों से भरे हुए इस विश्व में ज्ञान व ज्ञेय दोनों तत्त्व स्वतंत्र, स्व अस्तित्व वाले होने पर भी हमें ज्ञेय का तत् (भाव) ज्ञान में मिथ्या जैसा दिखाई देता है, परन्तु जो ज्ञेय के भाव हैं सो मात्र इस ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं। जैसे तालाब का जल, जल भाव से सदैव प्रर्वतमान है जो नभमण्डल प्रतिबिम्बित होता है, वह जल का ही भाव है उसमें नभमण्डल किंचित् कारण नहीं है। वहाँ उठ रहीं जल की तरंगें ही कारण हैं। अनादिकाल से इस शुद्ध ज्ञान में जैसा परिणमन होता है, वैसे ही बाहर भी परद्रव्यों का परिणमन भी उस-उस द्रव्य रूप अपने में हो रहा है क्योंकि वह ज्ञेय पदार्थ भी निजरस की शक्ति से प्रवर्तमान होते हैं।

जैसे दर्पण की स्वच्छता तो सदैव है किन्तु जब-जब ज्ञेय सामने आते हैं, उस समय वे दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं, वह दर्पण की अपनी स्वच्छता ही है और स्वच्छता तो दर्पण का निज भाव है। जैसे एक चित्रकार एक दीवार पर चित्र बनाता है और ठीक उसके सामने दीवार को घिसकर साफ कर लेता है तो सामने वाली दीवार में चित्र सहज! चित्रित हो जाता है ऐसे ही जो भाव निजरस से होते हैं वह भाव ही मेरे हैं और जो पर तत्त्व का प्रतिबिम्ब है, वह ज्ञान की ही रचना है। ज्ञेय मेरे अन्दर समा गया, ऐसा अज्ञानी मानता है, ज्ञानी

कहता है यह प्रतिबिम्ब तो मेरे ज्ञान का ही शुद्ध उत्पादन है। इसमें ज्ञेय के द्रव्य गुण पर्याय अंश मात्र भी नहीं है। दोनों के परिणाम एक साथ एक जैसे होने के कारण अज्ञानी अपने भाव को पर व पर के भाव को अपने में होना मान लेता है किन्तु इन भावों से रक्षा करने वाला आत्मा में तत्–अतत् नामक भाव है इसलिए न कोई पर के भाव ज्ञान में आते हैं और न अपने भाव पर में जाते हैं इस प्रकार अनेकान्त का तत्–अतत् भाव ज्ञान की रक्षा करता है ज्ञान और ज्ञान परिणाम ही तेरा तत्त्व है, शेष सब अज्ञान भाव है, ज्ञान से अतत् है।

अज्ञानी समस्त विश्व के ग्रहण का जो आग्रह करता है, उन्हें अपनी स्वसत्ता में लाना चाहता है तो स्वयं ही स्वयं का नाश करता है जैसे सूर्य की ओर धूल फैंकने वाला स्वयं अपनी आँखें फोड़ता है।

जगत में दो वस्तुओं के मिलने पर दोनों की ही सत्ता नष्ट हो जायेगी। वस्तु के लोप का प्रसंग उपस्थित होगा जैसे नमक व शक्कर मिला देने पर दोनों का ही स्वाद नष्ट हो जाता है।

अरे! पर पदार्थ मेरे अन्दर समा गया, जब अज्ञानी ऐसा मानता है तो ऐसे समय में अनेकान्त का अतत् भाव इसकी रक्षा करता है कि पर भाव कभी तेरे अन्दर आते ही नहीं हैं ऐसा तेरा स्वभाव है विश्व के भाव तो विश्व के साथ ही एकमेक रहते हैं (अद्वैत रहते हैं) तीव्र विषय के भाव के समय में भी ज्ञान, ज्ञान में ही कल्लोले करता है और जो विषय के भाव तथा क्रिया है वह मेरे ज्ञान में मात्र प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। ज्ञानी अपने ज्ञान को ध्रुव रूप ही अनुभव करता है अतः वह निश्चिन्त व निर्भय रहता है। इस प्रकार स्व में प्रवृत्ति और पर से

व्यावृत्ति रूप रहना यही तत्, अतत् रूप से अनेकान्त है, जो सदा इसकी रक्षा करता है।

(62)

घट में जल-सम साधक की परिणति

स्वानुभव के निकट साधक पुरुष को शुद्धात्म तत्त्व संबंधी विकल्पों में 'मैं शुद्धात्मतत्त्व हूँ' - ऐसा विकल्प भी औदयिक भाव बनकर आता है एवं 'शुद्ध पर्याय की दृष्टि' में वही विकल्प पर्याय बनकर आता है और वही 'शुद्ध पर्याय' शुद्धात्मानुभूति के समय 'शुद्धात्म द्रव्य' बनकर आती है, जब निर्मल पर्याय अपने त्रिकाली द्रव्य का संचेतन करती है, तो 'मैं शुद्धात्म तत्त्व हूँ' ऐसी निर्विकल्प, अभेद, अखंड, अनुभूति इस पर्याय में होती है। जहाँ पर्याय ने सर्वथा अपना अस्तित्व मिटाकर, ध्रुव का ही बाना पहन लिया है। सर्वत्र ध्रुव ही ध्रुव का साम्राज्य छा गया है। 'मैं ध्रुव हूँ या पर्याय, पर्याय हूँ या ध्रुव' - यह कुछ भेद नजर नहीं आता, एकमात्र चिन्मात्र, घन सत्ता का ही अमूर्त वेदन होता है।

जैसे घड़ा ज्यों-ज्यों भरता जाता है, त्यों-त्यों पानी की आवाज बदलती जाती है। ऐसे ही साधक ज्यों-ज्यो अनुभव के निकट पहुँचता है त्यों-त्यों परिणति घन व प्रौढ़ होती जाती है और अन्त में वही घनत्व दशा अनुभूति में परिवर्तित हो स्वरूप में समा जाती है। निर्विकल्प स्वरूप विश्रान्ति के क्षण में अनंत गुणों का एक मिश्र रस परिणति में बहने लगता है, सचमुच यही परम आनंद समाधि है। अहो! स्वानुभव की कोई अपूर्व अवचनीय अचिन्त्य महिमा है।

(63)

दान की शक्ति वट के बीज सी

दान इस प्रकृति का मधुरिम सौंदर्य है, उसका विस्तार विश्व के कण-कण में व्याप्त है जैसे खेत की मिट्टी एक तिल का कण लेती है और मण-भर देती है - ऐसे ही दान में वट के बीज जैसी अगाध शक्ति है उसका स्वरूप बड़ा ही विराट है। हम स्वयं इस सत्य से परिचित हैं कि हमारे घर जब उत्तम पात्र दिगंबर मुनिराज आहार के लिए पधारते हैं तो आहार-दान के समय मुनि भगवन् का उदर व अंजुलि कुछ ही ग्रास मात्र से भर जाते हैं, किन्तु दानी श्रावक का मन नहीं भरता, इससे सिद्ध है कि दान कभी द्रव्य सापेक्ष नहीं होता उसे द्रव्य-सापेक्ष मानकर हम उसके विराट स्वरूप का उपहास करते हैं। अरे! दान की काया का माप-तोल द्रव्य से नहीं हो सकता।

सचमुच इस विषय पर गंभीरता से विचार किया जाय तो विश्व ही छोटा दिखने लगेगा। जैसे जगत् में किसी के धन को मापने के लिए यदि संख्या न हो तो क्या वह धनिक नहीं है। उसी प्रकार प्रच्छन्नादानी की अन्तस, दान भावना के माप के लिए यदि उसके पास द्रव्य नहीं है तो क्या वह दानी नहीं है? बल्कि वही लोक का महादानी-पुरुष है, जिसके भावों में सागर सी उमड़न होती है।

ज्ञानी का अक्षय दान आत्मज्ञानी का दृष्टिकोण दान के संबंध में अज्ञानी से पृथक् प्रकार का होता है - वे ऐसे विशुद्ध परिणाम के समय अपने स्वभाव की महिमा पूर्वक बारम्बार उस चैतन्य देवता का अतीन्द्रिय रस परिणति में पी-पीकर उसे ही अटूट दान राशि भर-भर कर देते रहते हैं, अतः वर्तमान में ही उस पुण्य परिणाम का भोग

निर्जरा द्वारा करते हैं और इसका शेष भाग अर्थात् पुण्य का फल उसे विष कन्या समझ कर ज्ञानी उससे अनासक्त ही रहता है क्योंकि वह जानता है कि पुण्य-परिणाम का यह फल गन्ने के उस भूसे के समान है जिसका रस चूसने के बाद तत्काल फेंक दिया जाता है। वाह रे वाह! ज्ञानी की अक्षय दान राशि।

(64)

कर्म की स्वाधीन शासन व्यवस्था

जैन दर्शन का कर्म विज्ञान भी पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करता है इस जड़ चेतन सृष्टि में चेतन के साथ होने वाली कर्म व कर्म बंध की व्यवस्था भी बड़ी मनोवैज्ञानिक है, जिसमें किसी परद्रव्य व परपुरुष का कोई हस्तक्षेप नहीं और न आत्मा इन जड़ कर्मों के परिणमन में मददगार है। सच तो यह है कि आत्मा स्वयं ही अपनी योग्यता से शुभाशुभ भावरूप परिणमन करता है, पूर्व का उदय निमित्त मात्र है, बस इतना ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्म का कोई प्रभाव नहीं, कर्म सर्वथा जड़ है, यदि जड़ कर्म चेतन को राग-द्वेष कराये तो चेतन पराधीन हो जाये अतः कर्म की बंध, उदय, निर्जरा रूप पर्याय कर्म में होती है और चेतन की जानन-देखन पर्याय चेतन में। जैसे सारे भारत में कुछ वस्तुओं का संबंध बम्बई के भावों पर निर्भर होता है और वे भाव बम्बई के लक्ष्य से उसी अनुसार ही चढ़ते-उतरते रहते हैं, किन्तु बम्बई किसी को भाव चढ़ाने व गिराने को नहीं कहती, इसी प्रकार जो अज्ञानी कर्म से अपना संबंध मानते हैं उनके भाव ही कर्मोदय के अनुसार तीव्र मंद होते दिखाई देते हैं किन्तु ज्ञानी तो कर्म की लीक को लांघते हुए स्वतंत्रता के पथ पर

डग भरते हैं, इससे सिद्ध है कि कर्म किसी जीव के भावों में तीव्रता भी नहीं लाता और न ही मंदता। बल्कि कर्म के उदय होने पर उसके अनुसार परिणाम करने वाले जीव को राग द्वेष–होते हैं यदि वही कर्म सत्ता में विद्यमान है तो रागादि होते दिखाई नहीं देते। इस युक्ति से हम समझ सकते हैं कि आत्मा के परिणाम में कर्म का किंचित् भी हस्तक्षेप नहीं है उसे करने में आत्मा पूर्ण स्वतंत्र है। आत्मा इस सृष्टि का चेतनेश्वर तत्त्व है तो कर्म भी जड़ेश्वर महापदार्थ है।

(65)

भगवान का दासत्व–मुक्ति का बाधक चरण है

जैन दर्शन में मुक्ति का विधान अत्यन्त सरल एवं स्वाधीन है, जहाँ किसी भगवान की दासता को भी स्वीकार नहीं किया गया अन्य किसी का सहारा लेना पड़े, वह स्वाधीन मार्ग नहीं हो सकता, बल्कि दास्य भाव है – यहाँ तो 'स्वयं पुरुषार्थ करो और फल पाओ' इस सूत्र जैसे छोटे से वाक्य में तो सारी मुक्ति अपनी हथेली में आ जाती है। यदि भगवान को अनंत जीवों के बंध व मोक्ष के समस्त अधिकार सौंपे जाये और ऐसा होने भी लगे तो भगवान के भरोसे उनकी कृपा से हर जीव का मोक्ष व संसार होना चाहिए, किन्तु न ऐसा कभी हुआ है, न होगा – अरे! इस सृष्टि से मुक्ति का स्वाधीन मार्ग छीन लिया जायेगा, और भगवान उसे नहीं कहते, जो अपना सुख छोड़कर ये हमाली धंधा करे। उनके बाँधे कर्मों की गंदगी को साफ करके, उन्हें मोक्ष भेजे। जो व्यक्ति विषय की शरण छोड़कर यदि भगवान के पास जाता है और वे उसे अपनी शरण में फँसा लेते हैं, वे तो सच में भगवान नहीं – वंचक हैं।

भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त इस जगत में यह कहने वाला देव नहीं कि मेरी शरण छोड़कर तू अपनी शरण में जा – मेरे पास रोज–रोज मत आना, मेरे पास तुझे देने के लिए कुछ नहीं है, मेरे पास जो भगवान है और जिन निधियों का भोग मैं करता हूँ, वैसा निधियों का निधान तुझ भगवान के पास भी है, तेरे भीतर वर्तमान में ऐसा ही परमात्मा विद्यमान है। एक बार उधर दृष्टि तो कर, मेरी ओर से आँखें बंद कर ले और अपने अन्दर के चक्षु खोल सचमुच तेरे व मेरे में कोई अन्तर नहीं है; तू अपने को दीन–हीन पामर मानता है यह तेरे लिए कलंक है आत्मा ज्ञान से भरचक परमात्मा है निष्कलंक है ज्ञान को कभी कोई कलंक नहीं लगता। सुन! भगवान आगे से मेरी ओर मत देखना क्योंकि एक भगवान दूसरे भगवान के सामने खड़ा होकर मुक्ति की भी भीख माँगे, इसमें हमें लज्जा आती है। ''भक्त सदा चलता है रे भगवान–चरण पर, वीतराग का भक्त न जाता राग डगर पर।।'

इसमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि एक उपासक भगवान की स्तुति वंदना बड़े विनम्र व तन्मय भाव से करता है और उससे यह मान बैठता है कि मुझे स्वर्गादिक की प्राप्ति होगी या वर्तमान में मेरा सब अच्छा हो जायेगा, तो उपासक की इस स्तुति, भक्ति को चाहे पुण्य भाव कहा जाये, लेकिन इसमें अभिलाषा को छुपाकर भीतर ही भीतर पाप की वासना पल रही है, इसलिए वह पुण्य कितना ही उच्च कोटि का क्यों न हो – आत्महित में सर्वथा ये अकिंचित्कर है क्योंकि स्वर्ग के लिए पूजा करने वाले की नजर में देव के रूप में ये भोग होते हैं और भोगों की उपासना स्पष्ट पाप भाव है, अतः इस पाप का फल स्वर्ग तो है ही नहीं, बल्कि नरकादि है। भक्ति में दूसरा अति आवश्यक

तथ्य यह है कि – मुक्ति के लिए भगवान का अवलंबन ठीक इसी प्रकार होना चाहिए जैसे एक पानी में डूबने वाला व्यक्ति तैरने वाले का सहारा लेता है। डूबने वाला तैरने वाले की छाती पर चढ़ नहीं जाता वरन् तैरने वाले से निर्लिप्त रहकर ही वह उसका सहारा लेता है – यदि वह तैरने वाले पर भार बन जाय तो तैरने वाला उसे छोड़ देगा और स्वयं तिर जायेगा और वह डूब जाता है इसी प्रकार भगवान का अवलंबन निर्लिप्त भाव से हो, तो भव सागर तैर लिया जाता है और जो किसी भक्त को अपनी शरण में पड़े रखता हो – ऐसा भगवान, भगवान नहीं लोक का अपराधी पुरुष माना जाता है।

संक्षेप में कहा जाये तो जैन उपासना एक आदर्श निष्कर्म कर्म है – इसका ध्येय, कर्म व कर्म फल से कोसों दूर चैतन्य की ऊँची से ऊँची भूमिका पर प्रतिष्ठित है, उपासक के पेट (पर्याय) में से ही उपास्य देव अवतार लेता है। अतः एक दिन उपासक और उपास्य का भेद अदृश्य होकर वह साक्षात् उपास्य ही बन जाता है यही भक्ति का चरम रहस्य है।

"भक्त और भगवान मुक्ति की बातें करते,
मुक्ति कला यों सीख, भक्त भगवान बन गया"

(66)

'कारण द्रव्य व कार्य स्वतःसिद्ध है'

सिद्ध पर्याय की प्रबल भावना होने पर भी हमारी वर्तमान पर्याय से, उसकी बहुत दूरी सी लगती है अतः मन में निराशा का भाव उत्पन्न होता है किन्तु सच्चाई तो यह है कि वर्तमान में विद्यमान 'कारण स्वरूप द्रव्य' के अवलंबन से सिद्ध पर्याय सहज चली आती

है क्योंकि मात्र कार्य की भावना एवं आग्रह से कार्य निष्पन्न नहीं होता वरन् कारण के अवलंबन से वह अपने क्रम में स्वतः ही प्रगट हो जाता है।

यह निश्चित है कि पर्याय स्लीप हो जाने वाला सत् है, वह कभी हाथ नहीं आती, अतः उसके पीछे भागने में भंयकर आकुलता और कष्ट ही फलित होता है और शुद्ध द्रव्य का आश्रय लेने पर पर्याय इतनी पवित्र हो जाती है कि अनंतकाल तक प्रतिक्षण, वैसी की वैसी आती-जाती रहती है, अनंत सिद्ध दशायें उस ध्रुवकारण स्वभाव का चुंबन कर-करके चली जाने वाली हैं फिर भी ध्रुव चट्टान का एक प्रदेश भी नहीं खिरता ऐसी स्वयं-सिद्ध व्यवस्था कारण (ध्रुव द्रव्य) व कार्य (पर्याय) की है।

(67)

वाह रे पौद्गलिक शब्द की शक्ति

तीर्थंकर अरहंत परमात्मा की दिव्यध्वनि में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य होती है कि वह तीन या चार बार जब-जब भी खिरती है तब-तब वह जड़ भाषा-वर्गणा, सुनने वालों की शंका का सहज, समाधान कर देती है वाणी पौद्गलिक होने पर भी उसका उपादान ऐसा है - और उसी समय सुनने वाले की उपादान योग्यता भी ऐसी होती है कि वह उस वाणी को अपने क्षयोपशम ज्ञान में अंगीकार कर लेता है दोनों की स्वतंत्र परिणमन शक्ति है, एक दूसरे की कारणता किंचित् भी नहीं।

जैसे - जब मेघ का पानी बरसता है तो उस एक सी जल राशि में से जिसमें कड़ुवा होने की योग्यता होती है वह नीम के वृक्ष में

चला जाता है जिसे मीठा होना हो–वह गन्ने में चला जाता है और जिसे खट्टा होना हो वह नीबू में चला जायेगा। ऐसे ही दिव्य ध्वनि के ओंकार नाँद से भिन्न–भिन्न जीवों में भिन्न–भिन्न परिणमन होता है। जैसे कोई सम्यक्त्व ग्रहण करता है, कोई व्रतादि व मुनिदशा और कितने ही श्रेणी आरोहण कर लेते हैं, असंख्य जीवों के प्रश्नों के बिना बोले समाधान मिल जाते हैं। हम देखे पुद्गल भाषा वर्गणा की शक्ति! दिव्य ध्वनि खिरती है तब वह शब्द वर्गणा – वायुमण्डल से टकराकर, हमारे कानों के बाह्य व अन्तर्उपकरण से टकराती है, इसमें तो असंख्यात समय बीत जाते हैं तथा हमारे कानों तक वह शब्द वर्गणा नहीं आती लेकिन वायुमंडल में पड़ी भाषा वर्गणायें उस शब्द से टकरा कर बिल्कुल वैसी शब्द रूप पर्याय में परिणमन करती हुई आती रहती हैं फिर पुनः वर्गणा बन जाती हैं जिन्हें विलीन होना होता है वह विलीन हो जाती हैं वाह रे! पौद्गलिक शब्द की अपार शक्ति।

एक और आश्चर्य कि इनमें से जितनी वर्गणा मिलनी होती है उतनी ही उसके कर्ण को स्पर्श करती है सैनी पंचेन्द्रिय कर्ण इन्द्रिय वाला भव्य जीव ही समवसरण में जाता है वहाँ तीनों गति के जीव अपनी भाषा में समझ जाते हैं और उनमें कोई पात्र जीव भगवान की वाणी का प्रसाद पाकर ज्ञान में एकत्व विभक्त की कणिका के संस्कार जगा लेता है और उन संस्कारों को मजबूत करता हुआ शुद्ध चैतन्य की अनुभूति कर लेता है यह विशिष्ट भव्यता का सूचक है।

कोई धन्य क्षण हो तो वह अपूर्व सुख व शांति का स्वाद ले सकता है। इसमें क्षेत्र व काल कोई बाधक नहीं। सचमुच धर्म तीर्थ के प्रवक्ता तीर्थंकर परमात्मा का समवशरण ही कोटि–कोटि अतिशय युक्त होता है।

(68)

पक्ष से पक्षातिक्रांत

शुद्ध चैतन्य की मंगलमय अनुभूति के पूर्व, जब आत्मा इसकी विधि में प्रर्वत होता है, तब एक बड़ी सुन्दर, सुगम मनोहर, प्रक्रिया चलती है, प्रथम में प्रथम आत्मानुभूति सम्पन्न श्रीगुरु, महा करुणावंत उस भव्य सुपात्र को अपने वैभव की महिमा बताते हैं यह सुनकर उसे सुख की पिपासा शीघ्रता से जाग उठती है और वह उनकी वाणी का प्रसाद पाकर उसे अपने ज्ञान में आत्मसात् कर दृढ़ता पूर्वक भेदज्ञान पूर्वक आत्मसत्ता का निश्चय करता है, निश्चय हो जाने पर परिणति में आत्मा जयवंत हो जाता है मैं तो ज्ञान मात्र अव्याबाध, अक्षय, शांतिपुंज हूँ ऐसे चिंतन द्वारा प्रथम बार आत्मा के पक्ष में आता है पक्ष में आ जाने पर उसे आत्मा के संबंध में अनेक स्थूल व सूक्ष्म विचार बढ़-चढ़कर आते हैं।

मैं शुद्ध हूँ, अकर्ता हूँ, ध्रुव निष्क्रिय, परमात्म तत्त्व हूँ, इन विचारों में शुद्धात्मा की प्राप्ति की प्रसन्नता बहुत है, और साथ ही ज्ञान में विचारों के प्रति हेयत्व भी चलता है, विचार का तनिक भी पक्ष नहीं है क्योंकि विचार चंचल व तरल है उस वस्तु के संबंध में चल रहे विचारों में वस्तु नहीं है अरे! विचार का मार्ग थकावट वाला है, उत्साह बहुत होने से वहाँ विकल्पात्मक आनंद भी देखा जाता है, लेकिन वह आनंद अतीन्द्रिय जाति का नहीं है सचमुच जहाँ कर्तृत्व होता है, वहाँ नियम से विकल्प का जन्म होता है यहाँ जो ज्ञानात्मक विकल्प चल रहे हैं, वह भी वस्तु का एक अंश है अत: उसका फल राग ही है और द्रव्य तो इन पर्यायों के विकल्पों से अधिक शक्तिशाली निरंश सत्ता है इसलिए परिणाम का पक्ष तनिक भी विश्वास के

लायक नहीं, इसे सर्वथा भूल जाना–ज्ञानी को साध्य पक्ष (रत्नत्रय, मोक्ष) की भी अपेक्षा नहीं होती, ध्येय पक्ष ही ज्ञानी की दृष्टि में पूर्ण श्रद्धेय होता है।

आश्चर्य है कि प्रायोग्य लब्धि तक तो स्वच्छ ज्ञानवाला और अस्वच्छ ज्ञान वाला दोनों आ जाते हैं लेकिन करण लब्धि में तो स्वच्छ ज्ञान वाला ही आ पाता है उसे परिणाम का पक्ष व विचारों का लक्ष्य नहीं है उनके प्रति अत्यन्त उपेक्षा भाव है और एकमात्र द्रव्य को ही ध्येय बनाकर सूक्ष्म चिंतन में प्रवर्तित रहता है। ये विकल्प मात्र ज्ञान का ज्ञेय हैं क्योंकि अति सूक्ष्म विकल्प भी आत्मा की अनुभूति में बाधक बन खड़े रहते हैं मैं ज्ञायक हूँ, निर्विकल्प हूँ – ऐसा विकल्प भी ज्ञान को निर्विकल्प नहीं होने देता। अतः वस्तु को पाने के लिए सर्व विकल्पों का अतिक्रमण करना होगा।

निद्रा के दृष्टान्त से हम इसे सम्यक् प्रकार समझ सकते हैं क्योंकि निद्रा हर व्यक्ति की नित्य प्रयोगात्मक व अनुभूत वस्तु है निद्रा आने का जो क्रम है, ठीक ऐसा ही अनुभव का क्रम है, जैसे व्यक्ति को निद्रा में प्रवेश से पूर्व मन में अनेक प्रकार के विकल्पों का तूफान चलता है, समझो तब तक तो नींद आने का प्रश्न ही नहीं, किन्तु निद्रा संबंधी स्थूल व सूक्ष्म विकल्प भी चलते हो 'कि मुझे नींद आ जाये' 'मैं शांत हो गया हूँ' इत्यादि विकल्प भी निद्रा के बाधक हैं, जब उत्तरोत्तर सारे विकल्प और विचार शिथिल होते जाते हैं और अन्त में रुक जाते हैं तो नींद की गहरी दशा प्रारंभ हो जाती है। यदि हम पूछे कि आपको नींद कब आई और अन्त में कौनसा विकल्प चल रहा था ? तब वह व्यक्ति कहे क्या विचित्र प्रश्न है ? सच यह है कि इसमें ज्ञान मूर्च्छित सा हो जाता है, अतः सूक्ष्म से सूक्ष्म विकल्प का भासन

नहीं हो पाता कि मुझे अंतिम यह विकल्प था ? किन्तु हर व्यक्ति को विकल्प होते अवश्य हैं, बस ! निद्रा की सहज क्रमिक विधि – ऐसी ही है।

ठीक इसी प्रकार श्रुतज्ञान में ये शुद्ध नयात्मक विकल्प चलते हैं, लेकिन इसका लक्ष विकल्प की ओर नहीं, विकल्प से पार जो पड़ा है उसकी ओर है। चिंतन को स्वयं, चिंतन हेय कक्षा में रहता है अतः त्वरा से निर्विकल्प दशा की ओर बढ़ता हुआ घनत्व को प्राप्त होता जाता है तथा श्रद्धा व ज्ञान की सामर्थ्य इतनी बढ़ जाती है कि विकल्प सहज शिथिल होते जाते हैं क्योंकि निर्विकल्प द्रव्य का आदेश है कि मैं तुम्हारी ज्ञानमयी वेदी में तब प्रतिष्ठित होऊँगा, जब तुम उसे मेरे जैसा बनाओगे। अरे ! निर्विकल्प सत्ता का विकल्प भी निर्विकल्प नहीं होने देता, क्योंकि निर्विकल्प की अनुभूति निर्विकल्प ही होती है।

इस विकल्पात्मक भूमिका को सविकल्प स्वसंवेदन नाम भी दिया जाता है। सर्व विकल्प अस्त हो जाने पर उत्तरकाल में भावश्रुत ज्ञान निर्विकल्प होकर, घनीभूत अनुभूति में बदल जाता है इस निर्विकल्प स्व संवेदन में एक मात्र चिन्मात्र ही प्रतिभासमान होता है यह अद्वैत अनुभूति स्वयं ध्रुव बन जाती है, उसी क्षण आत्मब्रह्म के चप्पे-चप्पे में ब्रह्मानंद स्फुरित हो उठता है, इस विलक्षण जाति के आनंद की अनंतता अनंतानंत है, अधिक क्या कहें ? इसका यशोगान करना तो इसे शब्दों में बाँधने जैसा प्रयत्न है। सचमुच अनुभूति विकल्पातीत वचनातीत है। सविकल्प से निर्विकल्प, पक्ष से पक्षातिक्रांत होने का त्रैकालिक एक ही विधान है, अन्य किंचित् नहीं।

(69)

क्या है द्रव्य का कर्तृत्व

द्रव्य निष्क्रिय होने से उसमें तो कभी पर्याय के कर्तृत्व की पहल होती नहीं; फिर भी पर्याय तो प्रतिसमय होती है और उस पर्याय को अन्य द्रव्य तो कभी करता ही नहीं, इस प्रकार द्रव्य में पर्याय के उत्थान के लिये क्रम नियत पर्याय के अतिरिक्त अन्य तो कोई वृत्ति होती नहीं जो पर्याय को उत्पन्न करे, सहज ही एक के बाद एक पर्याय का प्रवाह चलता रहता है और कभी क्रमभंग नही होता। द्रव्य में पर्याय के इस सहज भाव को ही द्रव्य का कर्तृत्व कहते हैं। यदि द्रव्य में पर्याय के कर्तृत्व का बोझ रहेगा, तो द्रव्य सदा ही क्षुब्ध बना रहेगा अतः सहज गति में पर्याय का होना ही द्रव्य का कर्तृत्व है।

(70)

ज्ञानी 'चिन्मय समय' से प्रतिबद्ध रहता है

ज्ञानी सदैव स्वरूप से ही, निज परिपूर्ण चिन्मय समय से निरन्तर प्रतिबद्धता के कारण, रागादि व पुण्य-पाप की वृत्तियों से सदा अप्रतिबद्ध रहता है उनके प्रति अविराम हेयत्व वर्तता है अहा! श्रद्धा में उनके प्रति पूर्ण परत्व पड़ा है अतः तत्संबंधी सुख व दुख के प्रति भी वह अत्यत उदासीन रहता है, क्योंकि उत्पन्न होने वाला हर्ष-विषाद भी कर्मोदयजनित है, ऐसे विविध पर्याय जनित भावों में उसका अहं नहीं होता, वह इन्हें अटल परिवर्तन मात्र जानता है अतः अपने को उनरूप न मानता हुआ 'चिन्मात्र' ही मानता है

जैसे एक व्यक्ति घर पर सोया हुआ स्वप्न में रेल यात्रा कर रहा

है और मैं अमुक स्थान पर जा रहा हूँ, इत्यादि विचारों में खोया है किन्तु सचमुच तो वह पलंग पर सो रहा है, पलंग पर सोया वह अपने को रेल में बैठा अनुभव करता है, किन्तु उसका यह अनुभव झूठ है, उस समय उसके परिवार के लोग उसे पलंग पर सोया देख रहे हैं, रेल में नहीं – इसी प्रकार अज्ञानीजन ज्ञानीजनों को पुण्य-पाप के अनेक संयोगरूप एवं विभिन्न पर्याय के परिणमनरूप देखते हैं, लेकिन तत्त्वदृष्टा, आनंदभोजी, ज्ञानी तो अपने को शुद्धशुद्ध 'चिन्मय, समय' से प्रतिबद्ध ही अनुभवते हैं, वहाँ परिणमन दिखाई नहीं देता।

(71)

वस्तु का क्रम व अक्रम धर्म

जड़ चेतन सभी पदार्थों में क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती नामक धर्म विद्यमान है ऐसे अनंत ही धर्म पदार्थ में एक साथ पाये जाते हैं। जगत की समस्त ही वस्तुएँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण से लक्षित हैं इनमें द्रव्य व गुण तो ध्रुव रहते हैं और पर्याय अपने उत्पाद व्यय स्वभाव में वर्तन करती रहती हैं। गुण का स्वभाव अक्रमवर्ती है द्रव्य में अनंत गुणों का कोष व्यवस्थित है – एक-एक गुण द्रव्य के साथ अक्रमरूप है जैसे कोई चादर बिछी हो। वहीं एक गुण दूसरे गुण के साथ भी अक्रमपने स्थित है 'इस अक्रमस्वभाव के कारण वह गुण-रत्न दीप की भाँति द्रव्य के साथ जैसा का तैसा नित्य रहता है', इसलिए अनंत गुणों की भाँति एक गुण भी उतना ही अक्रम स्वभाव को लिए हुए है।

इसी अनंत गुणात्मक वस्तु में पर्याय सदैव क्रमवर्ती होती है और क्रमबद्ध व नियत भी। वह नियत व्यवस्थित क्रमबद्ध-धारा प्रवाह, एक-एक गुण के साथ जुड़ी हुई है। द्रव्य तो क्रम व अक्रम

दोनों स्वभाव से अप्रभावित रहता है और पर्याय का क्रम भी न द्रव्य से प्रभावित न गुण से प्रभावित न भूत भविष्य की पर्याय से प्रभावित न संयोगी पदार्थ से प्रभावित है – इस पर्याय के क्रम धर्म से अनजान अज्ञानी जीव को अपनी आत्मा व पर द्रव्य के क्रम भंग करने का मिथ्या विकल्प प्रतिसमय चलता रहता है लेकिन क्रम भंग होता नहीं बल्कि सारे विकल्प निरर्थक चले जाते हैं और पर्याय अपने नियत क्रमबद्ध रूप से जरा भी खिसकती नहीं ऐसी क्रम अक्रम धर्म की वस्तु में गजब शक्ति है।

(72)

द्रव्य व पर्याय का अभेद पक्ष

हमें पर्याय को उपलब्ध करने के लिए द्रव्य को उपलब्ध करना होगा, द्रव्य को छोड़कर, कभी भी पर्याय उपलब्ध नहीं की जा सकती, जैसे शरीर के बिना कभी भी अंग की प्राप्ति संभव नहीं होती एवं एक अंग की चिकित्सा के लिये संपूर्ण देह को प्रथम उपलब्ध करना होगा क्योंकि देह में से एक अंग को निकाल कर डॉक्टर के पास ले जाना संभव नहीं है। इसीप्रकार पर्याय की द्रव्य में क्या स्थिति है? अर्थात् पर्याय का स्वभाव द्रव्य से अन्य होने पर भी वह द्रव्य से दो अँगुलि की तरह पृथक् नहीं वरन् जल और उष्णता की तरह अपृथक् है, यह श्रद्धा कराने के लिए द्रव्य–पर्याय की अभेदता का प्रतिपादन किया जाता है और इस अभेद स्थिति में भी सचमुच देखा जाय तो – जैसे बीमारी शरीर का एक अंग ही है संपूर्ण देह नहीं, इसी तरह अशुद्धता मात्र आत्मा की पर्याय में ही है, संपूर्ण आत्मा अर्थात् द्रव्य और गुण में नहीं।

वस्तुस्थिति यह है कि द्रव्य और पर्याय को दो अँगुलि की तरह सर्वथा भिन्न मान लेने पर द्रव्य के बिना पर्याय का जन्म ही नहीं होगा अतः पर्याय के सत्त्व के लिए द्रव्य से उसकी अभेदता स्वीकार करने योग्य है।

(73)

'उपास्य-उपासक की चरम अभेदता'

अहो! चैतन्य द्रव्य तो सदा ज्ञान व आनंदरूप ही रहता है, जिस तरह पर्याय में आनंद का भोग होता है, उस तरह द्रव्य में आनंद का भोग नहीं होता, द्रव्य तो शाश्वत आनंद का कोष है, आनंद से लथपथ है, शाश्वत अनंत आनंद भोगी है ऐसी मेरी सत्ता पर से अत्यन्त भिन्न-निरपेक्ष होने के कारण, किसी के आधीन व अपेक्षा न रखने के कारण, अचल कोष है, जितनी संपत्ति इसके पास यहाँ है, वैसी अभव्य आदि अन्य जीवों के पास भी है, लेकिन उनका वैभव मेरे किसी काम का नहीं, सच्चाई से वह मेरे देखने तक की वस्तु नहीं, मुझे उससे कुछ मतलब भी नहीं है, मुझे तो आनंद की पर्याय से भी कोई प्रयोजन नहीं, वह पर्याय अपने समय पर आकर चली जाती है न मुझे भूतकाल को देखना न भविष्य को, वह पर्याय तो एक से एक आगे तैयार है अनुभूति में एक के बाद एक नया ग्रास, हर ग्रास आनंद व सुखमय है, ऐसी क्रमनियमित सुन्दर व्यवस्था है, एक ज्ञायक ही सारभूत तत्त्व है, नाश होने के योग्य भावों से दूर है, इसमें सारा पर्याय समुदाय दूर हो गया। इसप्रकार पर्याय दृष्टि का निषेध हो जाने पर श्रद्धा की पर्याय द्रव्य की ओर झुकती है, क्योंकि द्रव्य का भार सहने की ताकत उसी के पास है।

पर्याय का स्वरूप यही है कि वह स्वयं को ध्रुव ही मानती है, उससे पूछा जाये कि तुम कौन हो ? तो कहती है 'मैं ध्रुव हूँ' द्रव्य तो अपना नाम तक नहीं बताता, अनबोला है, निष्क्रिय, अपरिणामी तत्त्व है, यदि पर्याय अपना परिचय दे कि मैं पर्याय हूँ, इसमें पर्याय ने अपने को श्रेष्ठ माना और द्रव्य को हीनतम।

पर्याय अंश है द्रव्य का ही, वह अपने को द्रव्यरूप अनुभव करती हुई परिचय देती है, पर्याय को द्रव्य के लिए मिट जाना पड़ता है, वह अपने अस्तित्व को खोकर ही समर्पित होती है, यही अभेदता की पराकाष्ठा है जहाँ पर्याय रहे भी और स्वयं दिखाई भी न दे। अनुभव करने वाली पर्याय यह कहे कि मैं अनुभव करती हूँ, उससे द्रव्य कहता है, तुम चाहे कितना ही घमण्ड कर लो, लेकिन हमारे परिवार की अभेदता बस यही है कि तुम अपने को पूरा गौण कर दो और द्रव्य के साथ एकमेक हो जाओ। अनुभव की प्रक्रिया पेचीदा नहीं है, स्वयं पर्याय का पर्यायमात्र से ममत्व टूट जाता है, श्रद्धा की पर्याय में यह क्षमता है कि वह द्रव्य का परिचय अभेद होकर देती है, स्वयं अदृश्य हो जाती है और ज्ञान भी उसी परिवार का सदस्य है, वह भी अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है।

चैतन्य को दिया गया श्रद्धा का ममत्व कभी टूटेगा नहीं, फूटेगा नहीं, यह पर्याय सौभाग्यशाली हो गई, अब उसका भाग्य कभी फूटनेवाला नहीं है, ध्रुव देवता पर टिक जाने से अमर हो गई, अमरपुरी की वासी हूँ, ऐसी अनुभूति में समा गई जैसे घर में पाँच सदस्य हों, कोई अपरिचित मेहमान आये हों, सभी सदस्य वहीं बैठे हैं। देखकर मेहमान बोलते हैं कि अच्छा आप पाँच हैं, तो हमारा उत्तर होगा कि नहीं हम एक ही हैं पाँच नहीं। इसीप्रकार पर्याय द्रव्य

में अभेद भाव से एकमेक होकर बोलती है, मैं तो एक हूँ, पूर्ण हूँ, ध्रुव हूँ, वह परिणाम बिना का जो द्रव्य है अपरिणामी, वही पर्याय की उपासना का उपास्य देवता है।

(74)

'द्रव्य पर्वत है, तो पर्याय पार्वती है', 'द्रव्य अचल है तो पर्याय अचला है'

जिसकी सत्ता है, हय्याती है जो सदैव विद्यमान सत् है, उसकी हय्याती में किसी का कर्तृत्व नहीं, किसी का अहसान नहीं, उस हय्याति में 3 सत् आते हैं, द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत्! जिस प्रकार द्रव्य सत् को चुनौती नहीं दी जा सकती, गुण सत् को चुनौती नहीं दी जा सकती, उसीप्रकार पर्याय सत् को भी चुनौती नहीं दी सकती, वह भी पूर्ण स्वतंत्र है, वह अनादि पर्याय प्रवाह क्रम में अपने चरम बिन्दू (जन्म क्षण) पर आया है, उसमें भी किसी का हस्तक्षेप नहीं है, उसे हिलाने की या बदलने की ताकत किसी में होती तो वह आज (अभी) से पहले क्यों नहीं हुआ? वह अभी अपने समय पर हुआ है यही सूचित करता है कि वह भी सुनिश्चित है, उसे भी उसके स्थान से कोई हटा नहीं सकता। उसके आधार द्रव्य में भी यह ताकत नहीं है कि वह उसके स्वकाल से च्युत कर सके, अरे! द्रव्य पर्वत है तो पर्याय पार्वती है, जिस प्रकार पर्वत-अचल होता है, उसी प्रकार पर्याय भी एक समय की अचला है।

जैन सन्तों ने किसी भी पदार्थ के अधिकार छीनने की अनधिकार चेष्टा नहीं की, उन्होंने प्रत्येक के अधिकार उनके पास ही सुरक्षित रहने दिये। ऐसा उन्होंने वस्तुस्वभाव के अंदर जाकर देखा है कि सर्व

द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है, एक-एक परिणाम उस द्रव्य का आत्मा है, परिणाम और परिणामी में परस्पर आश्रय आश्रितपना है। जगत की कोई हस्ति भी उसे अलग नहीं कर सकती, जो परिणाम अभी मौजूद है, उसे कोई जुदा नहीं कर सकता, जो परिणाम समाप्त हो गया, व्यय हो गया उसे कोई ला नहीं सकता, तथा जो अभी आना नहीं है उसे कोई हस्ती (ताकत) ला नहीं सकती, यह केवल स्वाधीनता की पराकाष्ठा है, जिसे केवल-केवल जैनदर्शन देखता है।

(75)

सत्य के धरातल पर खड़ा जैनदर्शन

जैनदर्शन अनादि निधन है एवं वस्तुव्यवस्था भी अनादि निधन है, उसे हमारे वीतरागी व सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने अपने केवलज्ञान द्वारा जानकर दिव्यध्वनि द्वारा प्ररूपित किया चूँकि तीर्थंकर परम्परा अनादिकाल से है, अतः इनकी वाणी अनादि शब्द ब्रह्म परमागम रूप, परम सत्य है। सत्य सदैव अखंड होता है एवं त्रिकाल एकरूप ही रहता है, यदि वह समयानुसार परिवर्तित हो जाये तो फिर सत्य कैसा?

कोई ऐसा कहे कि एक व्यक्ति आधा सच्चा एवं आधा झूठा है, कारण कि उसने पाँच बार सत्य बोला एवं पाँच बार झूठ, लेकिन लोक में उसे झूठा ही कहा जायेगा, सत्य मैं एक अंशमात्र भी झूठ की मिलावट से वह सम्पूर्ण ही झूठ हो जाता है। अरे! सत्य की सत्ता शाश्वत होती है, वह त्रिकालाबाधित होता है, उसे कोई चुनौती नहीं दे सकता। जैसे सूर्य प्रतिदिन उदित होता है, यदि उल्लू प्रातः से

कितनी गालियाँ देने लगे एवं उसके अस्तित्व को ही नकार दे, तो क्या इससे सूर्य को कोई आँच आयेगी ? किंचित् नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, थोड़ा यहाँ का, थोड़ा वहाँ का, इसतरह मिलाकर सत्य नहीं बनता, जैसे सांख्य व वेदान्त वस्तु को नित्य स्वीकार करते हैं एवं बौद्ध अनित्य। क्या दोनों को मिलाकर सत्य है ?

सत्य में रंचमात्र भी असत्य का अंश नहीं होता, सत्य एक ही स्थान पर होता है जैसे मुल्लमा के बिना खोटा रुपया भी नहीं चलता, वैसे ही सत्य की मिलावट के बिना असत्य नहीं चलता, इसलिए अन्य दर्शन कोई एक बात सत्य कहते हैं, बाकी सब झूठ, लेकिन उनका वह कहा जाने वाला एक सत्य भी झूंठ के आवरण वाला ही कहा जायेगा।

व्यवहार श्रद्धा भी सुमेरु जैसी होती है, यही सत्य है, चाहे सृष्टि पर भूचाल आ जाये, फिर भी वह डिगे नहीं, निश्चय श्रद्धा का तो कहना ही क्या ?

जैसे कोई व्यक्ति किराने के व्यापारी से उधार सामग्री खरीदता था, वह उसे अपनी बही में लिख लेता था, उसने व्यापारी से विशेष जरूरत से 500 रुपये भी उधार कर लिये, जब व्यापारी ने कहा कि तुमने गत माह में 100 रुपये की सामग्री ली थी एवं 500 रुपये नकद भी, तो वह व्यक्ति बाकी सब तो स्वीकार कर लेता है परन्तु 500 रुपये तो मैंने लिये ही नहीं, ऐसा कहता है तो उस व्यक्ति को सत्यवादी कहेंगे या झूठा ? क्योंकि सत्य सदा सम्पूर्ण ही होता है, आंशिक नहीं हजारों असत्य मिलकर भी पराजित नहीं कर सकते, हजारों हाथियों का बल एक सत्य के अन्दर होता है। सत्य की तलाश

के लिए चाहे कितना घूमें, आखिर जहाँ आकर ठहरना होगा, वही जैनधर्म है बाकी तो बालू में तेल तलाशने जैसा ही है।

(76)

ज्ञानी की विरक्त दशा एवं सतत् ज्ञान धारा

जैसे – अथाह समुद्र के खारे पानी के बीच मीठे पानी की धारा, उससे बिल्कुल अलग अपनी सतह पर बहती रहती है, उसे जहाज का कप्तान जानता है, वह अपने यात्रियों से कहता है कि मीठा पानी आ गया, पानी भर लो। उसी प्रकार ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि को कर्मोदय, रागादि व पुण्य-पाप के बीच ज्ञान की अव्याबाध धारा सतत् बहती रहती है राग हो रहा है होने दो, शोर मचाने दो, मेरे में वह नहीं है, मैंने तो उससे सदा के लिए रिश्ता तोड़ दिया है जैसे मेरे घर की छत पर बादल गरज-गरज कर चले जाते हैं, क्योंकि मेरी छत तो कुलीश की बनी है ऐसे ही यह राग कोलाहल मचाता हुआ आता है, लेकिन मेरी आत्मसत्ता की छत तो कुलीश की बनी है, मेरा एक बाल भी बांका होनेवाला नहीं है।

नियमसार कलश में आया है "विभाव असत् होने से हमें उसकी कोई चिन्ता नहीं है, हम तो अपने हृदय कमल में स्थित शुद्ध चैतन्य का सतत् अनुभव करते हैं।

प्रश्न – राग को सर्वथा असत् कर दिया – 'है ही नहीं' यह तो एकान्त हो गया।

उत्तर – मेरी ध्रुव सत्ता में नहीं है, मेरे अन्तर में तो ज्ञान-आनंद की सरिता बहती है, सतत् उसी में स्नान करता हूँ यही सम्यक् एकान्त है। समयसार परमागम में प्रश्न आया है कि राग आत्मा में

भी नहीं होता और पुद्गल में भी होता दिखाई नहीं देता, तो फिर राग की खान कौन है ? आचार्यश्री उत्तर देते हैं कि राग की खान अज्ञान है, ज्ञानी की परिणति में अज्ञान का अभाव है, इसलिए उसके रागादि नहीं होते सचमुच ज्ञानी ने राग की खान 'अज्ञान' में आग लगा दी है अतः वे उसके परिसर में दिखाई नहीं देते। देखो! कितना सुन्दर वचन है।

(77)

सम्यग्दर्शन की दुनियाँ में ध्रुव बसा है

पारिणामिक भाव अविनश्वर है, वह शाश्वत आनंद का कोष है स्वयं ही आनंद भोगी है ऐसी मेरी सत्ता है पर्याय में तो उसके आनंद का भोगमात्र होता है इसलिए पर्याय जैसा भोग उस ध्रुव भाव में नहीं होता। यह चेतन सम्राट तो आनंद लुटा देने वाला है, अन्य का वैभव चाहे चेतन ही क्यों न हो, मुझे उसकी तनिक भी जरूरत नहीं, मैं द्रव्य तो ज्ञान व आनंद का स्तूप हूँ, घन है घन। उसकी ओर क्षण भर दृष्टि करते ही ज्ञान व आनंद की तरंग उठती है हर पर्याय ताजा आती है अरे सुख की आनंद की पर्याय जो क्षण-क्षण में आ रही है, जा रही है, बिना बुलाये अपने आप अपने क्रम में आकर उपस्थित हो जाती है एक से एक आगे तैयार है। एक क्षण के लिए भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती - ऐसी ताजा शुद्ध पर्यायों की ओर भी तुझे नहीं देखना - वह मेरा ज्ञेय भी नहीं, क्या देखूँ ? नाशवान को। मेरे बिना श्रम के ही आत्मा में से भर-भर आ रही है, जो पर्याय स्वयं शुद्धात्मा ही बन गई तथा अनित्य होते हुए भी अपने को ध्रुव मानती है, ऐसी अभेदता में सम्यग्दर्शन का सूर्य उदित होता है और यही कर्ता-कर्म के अनन्यत्व की पराकाष्ठा है।

श्रद्धा की पर्याय अपने को ध्रुव बनाकर ध्रुव का परिचय देती है वह उस पूर्ण द्रव्य के साथ अभेद होकर परिचय देती है, जब तक दो दिखते रहे तब तक दूरी बनी रहेगी और आनंद नहीं आयेगा बल्कि विकल्प खड़ा हो जायेगा, लेकिन जब पर्याय अपने अस्तित्व को सर्वथा मिटाकर अदृश्य हो जाती है एवं ध्रुव बनकर यह बोलती है कि ध्रुव मेरा जीवन है, वहाँ पर्याय को पर्याय की याद न आवे – वह तो द्रव्य से जुड़ चुकी है, पूरी द्रव्य पर समर्पित हो गई बस! ऐसी अभेदता हो इसके बिना मुक्ति मार्ग का प्रारंभ नहीं होता।

जब पर्याय का पर्याय से ममत्व टूटा, श्रद्धा का श्रद्धा से व ज्ञान का ज्ञान से एवं समस्त पर्याय मात्र से ममत्व टूट जाने पर वह ज्ञान व श्रद्धा की पर्याय द्रव्य से सट गई, उस पर्याय का स्वर यह कि मेरा परम उपास्य देवता यह है अब उसका चूड़ा (ममत्व) कभी फूटेगा नहीं, वह देव तो अमर है ही, लेकिन पर्याय भी तो अमर है – ऐसी अमरता की अमराइयाँ में केलियाँ करने लगी, अरे! इस सम्यग्दर्शन की दुनियाँ में तो ध्रुव ही बस गया है।

अरे! अनुभूति भी अनुभूति से दूर रहती है क्योंकि आत्मा अनुभूति की प्रीति वाला नहीं। ऐसी अनंती पर्यायें उस द्रव्य में तन्मय होकर, एकीभूत होकर, अपने परम तत्त्व का अनुभव करती है तो आनंद बहने लगता है, पूर्व में ऐसा विलक्षण जाति का आनंद कभी आया ही नहीं, इसका स्वाद इन्द्रियों की जाति से भिन्न प्रकार का अतीन्द्रिय होता है आत्मानुभव की इस निर्विकल्प दशा को परम समाधि स्व-संवेदन कहा जाता है – ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव सिद्धों के समान उस अमृत को पीता है आगम में आया है – "सम्यग्दृष्टि जीव का अपने आत्मा को जानने वाला ज्ञान शुद्ध व सिद्धों के समान होता है।" यह

भी अपने भावश्रुतज्ञान से वैसा ही अनुभव करते हैं जैसा सिद्ध करते हैं, अरे! वह तो सिद्ध ही बन गया है।

(78)

ज्ञान की स्वच्छता में ज्ञेयों की नास्ति है

जैसे दर्पण में अग्नि दिखाई देती है, लेकिन अग्नि की ज्वाला से दर्पण के टुकड़े नहीं होते, अग्नि की एक चिंगारी भी दर्पण को जलाने में समर्थ नहीं, वह तो अपने अखंड दल को लेकर स्थित रहता है दर्पण का अग्न्याकार परिणमन वह स्वयं दर्पण की विशेषाकार पर्याय है उसमें अग्नि कहीं नहीं। दर्पण तो अपने स्वरूप को लेकर स्वच्छ पड़ा है इसलिए दर्पण के स्वभाव से परिचित, बुधजन कभी चिंतित नहीं होते।

ऐसे ही ज्ञानी अनंत ज्ञेयों के बीच रहता हुआ भी निराकुल मस्त रहता है वह जानता है कि इससे क्या डरना यह तो सब मेरी ही कलाकृति है, सारे अनेकाकार ज्ञान है, अर्थात् मेरी ही रचना है इन विशेषाकार में भी मैं तो सामान्य ज्ञान हूँ, मुझसे ये ज्ञेय बाहर हैं, और सारे ज्ञेय ज्ञान का ही उत्पादन है इनसे ज्ञान की अखंडता कभी खंडित नहीं होती, पूरा अखंड ज्ञान वैसा का वैसा बच जाता है, ऐसे सामान्य ज्ञान की दृष्टि पूर्वक ज्ञानी ज्ञान मात्र आत्मसत्ता पर पहुँच कर उसके दर्शन कर लेता है अन्तर्मुख शुद्धोपयोग की दशा में तो साक्षात् ज्ञान सामान्य (पर्याय) में द्रव्य सामान्य की ही अनुभूति होती है, द्रव्य सामान्य का आविर्भाव हो गया और यदि बहिर्मुख दशा हो, वहाँ शुभाशुभ के विकल्प काल में भी ज्ञानमात्र अर्थात् ज्ञान ही जानने में आता है उसका ज्ञान शुभाशुभरूप नहीं होता, सचमुच देखा जाये तो ज्ञान की स्वच्छता में ज्ञेयों की नास्ति है।

(79)

द्रव्य की त्रैकालिक शुद्धता की सिद्धि

अनादि से आत्मा एक त्रैकालिक अस्तित्ववान सत्ता है और उस आत्मसत्ता के अदर्शन से मिथ्यादर्शन भी अनादि से चला आया, वह आत्मा को नानाप्रकार के वेश वाला मानता रहा, आत्मा नितान्त शुद्ध तत्त्व होने पर भी उसने आत्मा को अशुद्ध, पापी, मोही, रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, माना अथवा कहा, लेकिन हम विचार करें ऐसा मानने व जानने पर इस आत्मा का आज तक क्या बिगड़ा ? और जब सद्गुरु का बोध पाकर ज्ञान सम्यक् दिशा की ओर डग भरता है, तब वह सम्यग्दर्शन जैसे महान रत्न को प्राप्त कर लेता है, सम्यग्दर्शन आत्मा को शुद्ध, पूर्ण, निर्विकारी, नित्य ज्यों का त्यों स्वीकार करता हुआ आया, और उसने आत्मा के गले में वरमाला समर्पित की। जरा गंभीरता से सोचे – बताओ मिथ्यादर्शन व सम्यग्दर्शन दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा का क्या घटा और क्या बढ़ा ? अरे ! आत्मा तो त्रिकाल वही का वही सदृश, अन्वयरूप शुद्ध-शुद्ध अपने पवित्र स्वरूप को लेकर आज भी विद्यमान है और आगे भी रहेगा, ध्रुव तत्त्व इसी क्षण निर्मल श्रुतज्ञान द्वारा उपलब्ध होने योग्य है, पर्याय अभी उसके दर्शन कर ले तो वह परमात्मदेव, परम इष्ट ज्ञायक, ज्ञान की अनुभूति में उतर आता है, ऐसी सबल युक्ति द्वारा आत्मा की त्रैकालिक शुद्धता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है और सुरक्षित बच जाती है।

(80)

सम्यग्दृष्टि का वातानुकूलित कक्ष

सचमुच ! सम्यग्दृष्टि का निवास अपने वातानुकूलित कक्ष में

होता है, जिसमें पुण्य–पाप, राग–द्वेष की ठंडी व गरम हवा पहुँच ही नहीं पाती, वह तो आत्मा का रस पीकर इतना छक जाता है कि उसे यह भी पता नहीं होता कि मेरे साथ पर्याय भी है या पर्याय में राग का सद्भाव भी है। सच्चाई यह है कि पर्याय में राग होने पर भी चूंकि उसे पर्याय से राग नहीं है वह पर्याय को बारंबार याद नहीं करता, उसे तो चैतन्य का अमृत पीने से फुर्सत ही नहीं है, राग को तो उसने अलोकाकाश में भेज दिया, उसका भेदज्ञान परक चिंतन यह होता है कि राग कहीं भी रहे, यदि मेरे साथ यदि मोक्ष में भी जाये तो मुझको आपत्ति नहीं, क्योंकि मैंने तो रागादि के कण मात्र से भी संन्यास ले लिया है मुझे उससे कोई प्रयोजन नहीं रहा, ऐसे ज्ञानी देखता हुआ भी नहीं देखता, वह खाता हुआ भी नहीं खाता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता, नृत्य करता हुआ भी नहीं करता, एक मात्र अपने शुद्धात्मा से ही उसका टेलीफोन कनेक्शन जुड़ा रहता है, सबके बीच अलिप्त रहने की कला उसके पास है, जैसे बैंक का केशियर करोड़ों की राशि को मेरा –मेरा कहता है, पर एक भी नोट को अपना नहीं मानता, उसके भीतर भिन्नत्व की धारा सबसे हटकर बराबर चलती रहती है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुष को संयोगों के मध्य ज्ञान की अटूट धारा सतत् चलती है।

पं. राजमलजी साहब ने कलश टीका में ऐसा लिखा है कि ''सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर अपने आत्मा को आस्वादते हैं और उन्हें समय–समय निर्जरा होती रहती है।'' इतने सुन्दर वचन हैं।

अरे! आत्मदृष्टि सम्पन्न जीव का भावश्रुतज्ञान सारे जगत से विविक्त होकर, एक निज सत्ता में जाकर केन्द्रित हो गया है और ध्रुव के संवेदन में तल्लीन हो गया, उसकी यह प्रतीति सिद्ध दशा तक निरन्तर चलती है और सिद्धों जैसी ही प्रतीति व अनुभूति इसकी होती है।

आगम में आया है – सम्यग्दृष्टि का अपनी आत्मा को जाननेवाला ज्ञान भगवान सिद्ध के समान शुद्ध होता है दोनों में कोई अन्तर नहीं है, चारों ही गति के जीवों की एक ही अनुभूति होती है, प्रश्न होता है अज्ञानियों को तो सम्यग्दृष्टि की परिणति में राग–द्वेष है और अनेक क्रियाकलाप भी दिखाई देते हैं और वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि रामचन्द्रजी का उदाहरण सामने रखते हैं कि राम जंगल–जंगल सीता को ढूंढ रहे हैं, भाई लक्ष्मण की लाश को लेकर छह–छह माह तक घूम रहे हैं उन्हें हम क्या कहेंगे।

आचार्य कहते हैं, अरे तुम्हें राम जैसे सम्यग्दृष्टि के अन्तःकरण का पता नहीं, उसने तो राग से सदा के लिए संबंधविच्छेद कर दिया है, वह कहता है 'यह मेरा नहीं और मेरे में नहीं' मेरी छत तो वज्र की बनी है हवा के झोंके की तरह यह आकर निकल जाता है मेरी सत्ता की सीमा तो फौलादी है।

इसी संबंध में नियमसार परमागम में गंभीर कलश आया – ज्ञानी का चिंतन क्या होता है? 'विभाव असत् होने से हमें उसकी कोई चिन्ता नहीं है, हम तो अपने हृदय कमल में स्थित शुद्ध चैतन्य का सतत् अनुभव करते हैं। अरे! ज्ञानी का ध्येय शुद्धात्मा होने से वह तो सतत् उसी का रस पीते हैं उनको राग असत् अविद्यमान है इसलिए वे निश्चिन्त रहते हैं, ज्ञान व आनंद की सरिता उनके भीतर बहती रहती।

(81)

ज्ञान ज्ञेयों से निरपेक्ष सत् है

ज्ञान क्रिया अर्थात् जानन क्रिया निरपेक्ष, सत् व अहेतुक है, उसमें ज्ञेय की कारणता किंचित् भी नहीं, यदि ज्ञान की क्रिया (आकार)

का कारण ज्ञेय हो तो ज्ञान सदा परमुखापेक्षी बना रहेगा और ज्ञेय की ओर ताकता रहेगा, इस तरह ज्ञान स्वयं पंगु हो गया और अपने संपूर्ण आकार का कारण ज्ञेय को मान लेने पर ज्ञान की स्वतंत्र जानन शक्ति की हत्या हो गई, वह जब-जब भी जानेगा उसे ज्ञेय की मदद लेना पड़ेगी, यदि ऐसा है तो क्या ज्ञान के पास कुछ नहीं है जो उसके आकार ज्ञेय की कृपा से बन रहे हैं, जब ज्ञेय का परिणमन स्वतंत्र व निरपेक्ष है, तो ज्ञान भी निरपेक्ष व स्वतंत्र होना चाहिए।

जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा का कारण वास्तव में चन्द्रमा नहीं, लेकिन जल की स्वयं की योग्यता है क्योंकि वही चन्द्रमा पत्थर में अपना आकार क्यों नहीं बना पाता, यहाँ कोई कारण कार्यभाव है ही नहीं, यदि ऐसा हो तो पदार्थ की शक्तियाँ निष्क्रिय व निरर्थक हो जायेंगी, इससे यह पुष्ट होता है सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वतंत्र अहेतुक शक्ति से अपने आकार का निर्माण स्वयं करता है।

अरे ज्ञान में जानने में आने वाले बाह्य पदार्थ सोना, चांदी, माणिक, मोती, बंगला - यह सब मेरे ज्ञान का ही बना है देह व देहाकार, पुण्य व पाप, राग व द्वेष, कषाय की मंदता वह देह नहीं, कषाय नहीं यह तो मेरा ज्ञान सामान्य ही है। अरे! ज्ञान को ज्ञेयों का चन्द्रग्रहण व सूर्यग्रहण नहीं होता, मुझे कोई ग्रासीभूत नहीं करता, ग्रहण व त्याग की बातें मेरे अमूर्तिक चैतन्य व उसके ज्ञानमयी प्रदेशों में नहीं होती, अपने को ज्ञानमात्र स्वीकार कर लेने पर ज्ञेयों की दृष्टि विलय को प्राप्त हो जाती है, रागादि के विकल्प अर्थात् ज्ञेय लुब्ध विशेष की दृष्टि वाला महा मिथ्यादृष्टि है, अतः विशेष के मोह का परित्याग करके मैं तो ज्ञान का वज्र किला हूँ, इसमें जाकर निर्भय हो, सो जाओ।

(82)

'सिद्ध पर्याय मनभावन है पर टिकाऊ नहीं'

जीव का मनोविज्ञान यह कहता है कि सुन्दर से सुन्दर वस्तु हो, साथ में टिकाऊ भी हो – यह सिद्ध पर्याय अति सुन्दर मनोरम, परम पवित्र, मनभावन है, आनंद की धारायें जहाँ सदा बहती रहती हैं, एक के बाद एक अविराम गति से आती है, नया–नया भोग योगीश सिद्ध परमात्मा करते हैं, क्षायिक ज्ञान अनंत कहलाने पर भी वह पर्याय तो स्वयं क्षीण हो जाती है, अनंत सुखमय होने पर भी आगम की आज्ञा है कि हे भगवन् तुम्हारी यह मन भावन पर्याय भी प्रीति करने लायक नहीं क्योंकि यह टिकाऊ नहीं है, देखते–देखते आकाश के इन्द्रधनुष की तरह विलीन हो जाती है, इसलिए श्रद्धा वहाँ सदा के लिए टिक नहीं सकती, मोह–राग–द्वेष की पर्याय की तो क्या चर्चा करें, लेकिन यह स्फटिक जैसी चमकीली पर्याय और इसकी तन्मयता, भवसिन्धु का अन्त नहीं होने देगी उसके अति निकट अविनाशी, टिकाऊ परमात्मद्रव्य पड़ा है शीघ्र ही अपनी श्रद्धा को वहाँ टिका दो, तुम्हारा सिद्धत्व निश्चित है, यही पू. गुरुदेवश्री का भवान्तक संदेश है।

(83)

द्रव्य दृष्टि संसार सिन्धु को सुखा देती है

ऐसी व्यवस्था क्यों हो कि आत्मा को विश्राम किसी अन्य में मिले ? अन्य में विश्राम तपासना पर्याय का महा भ्रम है, श्रीगुरु इस भ्रम को समाप्त करते हैं। पर्याय के आराम के लिए पर्याय अपना विस्मरण कर दे, और अनादि अनंत में विश्राम करे तो परिभ्रमण का अंत हो। प्रथम तो क्षणिकाओं में अटका था, जो क्षणिक था वह

इसका विश्राम स्थल कैसे बन सकता है या फिर देह को आत्मा मानने के कारण देह के ममत्व का भयंकर कष्ट रहा। पर्याय का ममत्व संसार सागर में डुबो देता है और द्रव्यदृष्टि संसार सागर का शोषण कर लेती है कैसे ? जब पर्याय अपने ध्रुवत्व का वेदन करती हुई आती है तो उसका संसार भी सूख जाता है, सदा के लिए सुख की धारा अनंत हो जाती है। श्रद्धा को स्वयं श्रद्धा की पर्याय नहीं दिखनी चाहिए यदि पर्याय-पर्याय का अवलंबन ले तो प्रतिसमय भयंकर क्लेश का ही वेदन होता है।

आत्मा तो निःसंदेह अमरता का पुतला है ऐसा एक बार विश्वास करो। यह तो अनादि से चढ़े हुए विष को उतारने का मंत्र है यदि इसमें थोड़ा पक्षपात भी लगे तो भी इस पक्ष में एक बार आ जाना, तो पक्षातिक्रान्त हो जाएगा जब हम शुद्ध और अशुद्ध पर्यायों से मुँह फेरकर चलते हैं, तब हमें द्रव्य में गुणों का पसारा मिलता है, वहाँ गुणों के विचार उमड़-उमड़ कर आते हैं, लेकिन यह तो उमड़न है, अभी बरसात होना शेष है सच्चाई यह है कि गुण के भेद करते समय ही गुणभेद उसकी दृष्टि में अस्त होते चले जाते हैं और एक महत्त्वपूर्ण बात कि इस विचार दशा में हमें वैभव का नहीं, वरन् वैभवशाली, चैतन्य चक्री की महिमा प्रवर्तित होती है एवं दृष्टि में उस दृष्टेय चक्री का ही वर्चस्व वर्तता है।

(84)

गुणों की भेद वासना अनुभूति की अंतिम रुकावट है

अनंत गुणों का भेद व चिंतन भी भेद को समाप्त करके अभेद में

ले जाने के लिए होता है। सचमुच गुणों की भेद वासना भी अनुभूति की अंतिम बाधा है यह जीव की अंतिम रुकावट एवं फंसावट है दर्शन-ज्ञान-चारित्र के दर्शन में आत्म-दर्शन नहीं होता दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दृष्टि भी पर्याय दृष्टि ही है क्योंकि यह भी भेद वासना है पुरुषार्थी जीव को तो आत्मा चाहिए, दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं चाहिए इसलिए आचार्य उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा आत्मा पर ले जाते हैं मैं अनंत शक्तिवाला एक निष्क्रिय-ज्ञायक हूँ यह ज्ञान का विषय है श्रद्धा का विषय तो ऐसा होता है कि उसके पास जाकर श्रद्धा के पैर टूट जाते हैं, जम गये अब वह आगे न बढ़ सके, अत्यन्त तृप्त-तृप्त हो जाए, क्योंकि पूर्ण आनंद चाहिए तो पूर्णता की प्रतीति आवश्यक है।

ज्ञायक भाव की सम्यक् प्रतीति के अभाव में आत्मा का एक ओर संसार गुणों की प्रीति में गुणों को माध्यम बनाकर चलता रहेगा विचार गुणों के लिए नहीं लेकिन आत्मा के लिए हो। गुणों के चिंतन के समय भी उसका लक्ष्य उन अनंत गुणों को पीकर बैठे हुए गुणी पर हो, तूफानी गति से चलनेवाले शुद्ध-बुद्ध, कर्त्ता-अकर्त्ता व दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विकल्पों में भी आत्मा को आनंद नहीं मिलता, इसलिए यह व्यवहार कोटि में है। व्यवहार आने पर भी व्यवहार उसकी दृष्टि में हेयत्व भाव से प्रवर्तित होता है, और शुद्धात्मा उपादेय। अत्यन्त गंभीर बात यह है कि मोक्षमार्ग में द्रव्य की विद्रोही पर्याय को तो स्वयं द्रव्य में स्थान नहीं मिलता, लेकिन बेलिहाज जैनदर्शन ने गुणों के साथ भी कोई लिहाज नहीं किया है। इन गुणों के आंशिक भेद में ज्ञान व श्रद्धान विचार की तरंगों को भेदते हुए स्वयं निर्विचार हो, निस्तरंग चैतन्य में एकीभूत होकर उनमें समा

जाते हैं, उससे उत्पन्न ब्रह्मानंद की उपमा जगत के किसी वैषयिक आनंद से नहीं दी जा सकती, ऐसा विलक्षण जाति का होता है यह आत्मिक आनंद।

(85)

सचमुच! ज्ञानी का पुरुषार्थ अजेय होता है

प्रथम पीठिका में स्वच्छ ज्ञान, राग और ज्ञान की छँटनी करता है, पश्चात् वही ज्ञान जो आत्मा की प्राप्ति के लिए उद्धत हुआ है, वह शरीर कर्म, रागादि को भेदता हुआ, राग व ज्ञान की साँध के बीच प्रज्ञा छैनी को पटकता है और राग के विरुद्ध पुरुषार्थ द्वारा वह शुद्धात्मा को अलग छांट लेता है, राग के बहाव में बहता नहीं, जैसे किसी नदी में बहता व्यक्ति अपनी तैराक शक्ति को निरन्तर बढ़ाता जाता है, वह उस बहाव के तीव्र वेग को नहीं रोकता तथा उसके साथ बहता भी नहीं, बल्कि पूरी ताकत के द्वारा किनारे पर आ जाता है, ऐसे ही पुरुषार्थी साधक कर्म के तीव्र उदयरूप बहाव में बहता नहीं, बल्कि ज्ञान के उग्र पुरुषार्थ द्वारा राग के वेग से अपने को बचाता हुआ - ऐसा उन्नत ज्ञान, स्व सत्ता के अभिमुख होकर, अनुपम सुख का भोग करता है, उधर चारित्र में वैराग्य शक्ति वृद्धिगत होती जाती है और शेष रागादि बालू के ढेर सा बिखर जाता है।

सचमुच ज्ञानी का पुरुषार्थ अजेय होता है, तीन लोक मिलकर भी उसे पराजित नहीं कर सकते और बचा हुआ राग तो स्वयं ही पंगु है, वह तो उसके आनंद भवन में प्रवेश कर ही नहीं सकता, ऐसा भी संभव है कि एक अकेला ज्ञानी और उधर असाता का ऐसा घेरा (उदय) हो कि भूत-भविष्य का सारा कर्मोदय एक साथ

प्रहार करने के लिए सामने खड़ा हो, किन्तु ये उदय उसकी अचल परिणति को डिगाने में असमर्थ है, सारा विश्व एक ओर, और चैतन्य शक्ति एक ओर, ऐसे वज्र पुरुषार्थ वाला विजयी होता है। जब वह अपने ध्येय में एकाग्र होता है, तब ध्यान की निश्चल दशा में, अन्तर्मुहूर्त काल में, केवल्य का प्रकाशपुंज उदित हो जाता है, उसी क्षण सारे कर्मों में प्रलय मच जाता है। अरे! इसे कहते हैं प्रचण्ड पौरुष।

(86)

मैं अनंत शक्तियों को पचाकर बैठा हूँ

सत्ता वह सत्य है, सत्ता को सत्ता बने रहने के लिए उस सत्ता के अनुरूप ही शक्तियाँ व गुण होने चाहिए, चेतन की अनंत शक्तियाँ उस वस्तु के गर्भ में पड़ी हैं, वह शक्तियाँ सदा ही पूर्ण रहती हैं, कभी उनकी वृद्धि या शोषण नहीं होता। चैतन्य तत्त्व असहाय और स्वयंसिद्ध होने के कारण उसमें किसी भी प्रकार के नाश की संभावना नहीं है।

किसी के द्वारा बनायी गई न होने के कारण वह सत्ता अनादि है और कभी अंत न होने के कारण अनंत है, ऐसा मानने पर मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। वस्तु अपनी संपूर्ण शक्तियों से अलंकृत है ऐसी प्रचुर सामग्री होने पर भी आत्मा बहुत दरिद्री रहा, लेकिन यह कोई तरीका नहीं, कि अन्य से भीख माँगता रहे, और प्रसन्न होता रहे। जो जगत् से भयभीत है, वह आत्मा में आसीन है, आत्मनिष्ठ है, ऐसे आत्मरसिक को परसत्ता का विश्वास सर्वथा टूट जाता है और स्व सत्ता का विश्वास अटूट हो जाता है।

आत्मसत्ता अत्यन्त गंभीर है, प्रभुता संपन्न है जो अनंत शक्तियों को पचाकर बैठा है यह कोई सामान्य तत्त्व नहीं है। मैं तो अनंत पुरी का वासी हूँ ऐसा शुद्धनय उस सत्ता का अनुभव करता हुआ उदित होता है उसके साथ ही दृष्टि की निर्मलता होने पर उसमें सदैव शक्ति का पिण्ड मेरा परम तत्त्व, की ही प्रतीति बनी रहती है, बस! मेरी श्रद्धा में इसी का पाचन होता है।

(87)

भ्रम की सत्ता है, परन्तु उसमें सत्यता नहीं

आत्मा में अज्ञान है, यह भी ज्ञान का विकार है, जिसप्रकार दूध जलने पर दूध की ही गंध आती है, उसी प्रकार विकार में भी ज्ञान की ही गंध आती है, पर्याय की मर्यादा केवल भ्रम मात्र तक ही है, इस शरीर में तो क्रियाकाण्ड-राग-द्वेष, कर्म, कुछ भी विकल्प नहीं होते, क्रिया चाहे होती दिखाई दे, लेकिन इस क्रिया से पुण्य-पाप भाव का कोई संबंध नहीं है, ये तो जीव की पर्याय के विकार हैं, द्रव्य सत्ता तो नितान्त शुद्धातिशुद्ध है, यह पर्याय आत्मा को पूर्ण एवं शुद्ध माने बस इतना मोक्षमार्ग है। सुलझना चाहे तो मार्ग बहुत सरल व छोटा है आत्मा का चिंतन स्मूथ भाव से हो, परन्तु आत्मा के चिंतन में मुग्ध होने पर भी चिंत्य नहीं मिलेगा, सुख के केन्द्र आत्मा को जो नहीं देखता, उसे सुख मिलेगा कहाँ से? पर्याय में दुःख भी आत्मा की सुख शान्ति को साबित करता है पर्याय में अज्ञान व दुख है, यह भी ज्ञान व सुख गुण की सिद्धि करता है, अतः इस ज्ञान के जागरण की प्रेरणा आचार्य देते हैं कि मैं आत्मा को बंध और मुक्त किस नय से देखूँ क्योंकि मैं तो सर्वथा मुक्त ही हूँ सम्पूर्ण जगत् भ्रम का बना है

भ्रम की सत्ता है, लेकिन भ्रम में सत्यता नहीं, यह भ्रम टला कि संसार टला। ज्ञानियों को संसार केवल गौखुर जितना लगता है, संसार की कोई मर्यादा नहीं होती क्योंकि संसार है ही कहाँ? यह संसार कल्पना मात्र रम्य है और कल्पना का निवारण ही मोक्ष है।

(88)

अज्ञानी कर्म का खिलौना है

कर्म ने मुझे जकड़ रखा है, यह मुझे छोड़ते नहीं, ऐसी खोटी बुद्धि वाला अज्ञानी कर्म की गोदी में खेलता है, कर्म का खिलौना है, ऐसा स्वयं को कर्माधीन माननेवाला जीव आत्मा और जैनदर्शन का हत्यारा है। निष्कर्म सत्ता का विश्वास न होने के कारण अनादि संसारचक्र में कर्मों की 'किक' खाता है परन्तु सत्य धर्म का विश्वास मात्र इस संसार चक्र का प्रलय कर देता है। ज्ञानी अनित्य वस्तु को छोड़ने से घबराता नहीं, क्योंकि उसे पर्याय की चिंता नहीं होती, अज्ञानी बात करता है द्रव्य की और चिंता करता है पर्याय की। पुण्य-पाप कर्म की चर्चा करना आत्मा का घात करना है, स्वभाव का तिरस्कार करना है भूतार्थ तत्त्व की शरण से सारी दरिद्रता दूर हो जाती है, जैसे धुआं उठता अग्नि में से है, लेकिन धुएं में उष्णता नहीं है ठीक इसीप्रकार राग-द्वेष पुण्य-पाप के परिणाम होते आत्मा में है, किन्तु आत्मा का कोई लक्षण पुण्य-पाप आदि भावों से नहीं है। आत्मा निकम्मा, निष्कर्म, अकर्मा पवित्रतम पदार्थ है और इसकी एक क्षण की अनुभूति कर्मों की संतति को उजाड़ देती है। इसके जटिल बंधन का चूरा कर देती है, आत्म दृष्टि से तो ये थर-थर काँपने लगते हैं - ऐसा अनुभूति का माहात्म्य है।

(८९)

एकत्व की अनुभूति में अनेकत्व समाविष्ट है

तत्त्ववेदी पुरुष को आत्मचिंतन की धारा अविराम गति से चलती है, एकमात्र ज्ञायक की ही तड़प व प्राप्ति की आतुरता रहती है, उसका उपयोग अपने ध्येय व श्रद्धेय की ओर पूर्ण रूप से झुक गया है, उसे अनुभूति से पूर्व धारावाहिक विचार चलते हैं, लेकिन लक्ष्य शुद्धात्म तत्त्व का ही रहता है, ज्ञान इतना निर्णीत और साफ हो जाता है कि उस ज्ञान में भी श्रद्धा के विषय का निर्णय अनेक से पार होता है, आत्म विचारों में सहज स्वाभाविकता झलकती है, जिस वस्तु के प्रति हमारी प्रीति होती है, उस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि हमें प्रीति वस्तु की है। विचार होते अवश्य हैं, बढ़-चढ़ कर आते हैं, लेकिन आत्मा के गुणों के विचारों से संतुष्ट व्यक्ति विचार में ही स्थित है उनमें गति तो बहुत है, किन्तु गन्तव्य तक नहीं पहुँच पाता बल्कि मार्ग लंबा हो जाता है।

वास्तविकता क्या है ? कि जिस सत्ता की दृष्टि व अनुभव होता है, वह सत्ता स्वयं ही अपने में पूर्ण है, अनंत गुणों के साथ या उनको मिलाकर वह सत्ता निर्मित नहीं हुई, गुण तो उसकी विशेषता है, अभिन्न ईकाई है, गुणों का विचार होता है, लेकिन उसका पृथक्-पृथक् स्मरण न करके सबको एक द्रव्य में ही एकीभूत कर दो, क्योंकि एकत्व की अनूभूति में अनंत एक साथ समा जाते हैं। एक अनेक को पीकर बैठा है, अत: जब हम एक को पीते हैं तो अनंत का स्वाद एक अनुभूति में उतर आता है। गुणों के विचारों के समय भी जिसे विचारों से प्रीति नहीं है, ऐसा जीव अपनी द्रव्यसत्ता का निर्णय कर लेता है यदि विचारों में प्रीति है तो कर्ता-कर्म का अज्ञान

वहाँ भी चालू रहता है, ये विकल्प जिसको भारी नहीं लगते, उसका लक्ष्य विकल्पातीत शुद्धात्मा पर नहीं है।

गुणों का भेद रूप से अनुभव करने का आग्रह अनंतकाल में भी साकार नहीं होगा और आनंद का वेदन तो होगा ही नहीं, बल्कि आकुलता बढ़ती ही चली जायेगी। गुण सदा द्रव्य के साथ मिले-जुले एकीभूत हैं, फिर भी ऐसा साधारणीकरण करना कि गुण क्या है ? यह तो सारा का सारा द्रव्य ही तो है, ऐसा एकत्व स्थापित करने से गुण सत्ता (भेद) का अतिक्रम हो जाता है और एक शुद्धात्मा में परिणाम का प्रतिक्रमण हो जाता है यह परिणाम ध्रुव द्रव्य के चक्कर लगाने लगता है।

ऐसी निर्विकल्प दशा में अनुभव का फोटो – 'किंचित् मिलिता स्वादम्' कुछ मिले हुए आस्वाद वाले अर्थात् अनुभूति में सबका एक रस स्वाद आता है, शीतल पेय की तरह, मिलकर भी नहीं मिले से, नहीं मिलकर भी मिले हुए से! ऐसा अनुपम रस होता है, दृष्टि में एकमात्र एकत्व ही आविर्भूत होता है, तभी अनंत गुण एक रसमय होकर स्वाद में आते हैं।

यहाँ आत्मा का प्रथम साक्षात्कार होता है, जहाँ द्रव्य धर्मी और पर्याय धर्म के बीच कोई नहीं-धर्म सिर्फ यह स्वीकार करे कि मैं धर्मी हूँ – ऐसी निर्विकल्प दशा में दो होने पर भी दो दिखाई नहीं देते, एक धर्मी द्रव्य ही दृष्टि में सर्वस्व होता है, ऐसी विलक्षण कला है, अनुभूति की।

(९०)

हमारा आदर्श कैसा हो

एक शुद्ध त्रैकालिक तत्त्व ही हमारे आत्म दर्शन में आदर्श हो सकता है, क्योंकि वह सदैव उपलब्ध होता है और उसमें कभी

परिवर्तन नहीं होता, वह कभी अशुद्ध भी नहीं होता। पर्याय में चलनेवाले राग-द्वेष-मोह की छाया भी उसमें नहीं है, राग-द्वेष के नाश करने की बात जिनवाणी में भी व्यवहार से कही जाती है। लेकिन उनके नाश करने में तो अनंत काल बीत जायेगा, फिर भी वे नष्ट नहीं होंगे। यदि उन्हें जड़-मूल से समाप्त करना है तो उसका एक सरल उपाय यह है कि उनके होने पर भी उनसे अहं तोड़ दो, उनकी ओर देखना बंद कर दो तथा उन्हीं के बीच में पड़ा, उनसे न्यारा, शुद्ध जीव तत्त्व उसकी ओर एक बार देख लो, तो इनकी सेना तत्काल भागने लगती है क्योंकि द्रव्य की शक्ति अपरिमित व अक्षय है, स्वाश्रित है, परन्तु मोह निराश्रित भाव है, उसका कोई आश्रयदाता नहीं है, जैसे घर में कपूत बेटा होता है, वह घर की संपत्ति बर्बाद कर देता है, सारे घर की मानसिकता यह होती है कि यह घर से निकल जाय, उसके साथ पराए पुत्र जैसा व्यवहार होता है। ठीक ऐसे ही मोहादि पर्याय से आत्मा का सुख नामक धन लुटता है, इसीलिए आदर्श के लिए उसे चुनो, जो हमारा साथ कभी न छोड़े और हमारे जीवन में सम्यक् पथ प्रशस्त करे, हमें सुख से भर दे।

(91)

ज्ञान फायर प्रूफ है

ज्ञानी व अज्ञानी दोनों का ही ज्ञान फायर प्रूफ है, जैसे घर में आग लग जाये, किन्तु यदि तिजोरी फायर प्रूफ है, तो वह रोता नहीं, बल्कि हँसता हुआ निश्चिन्त रहता है कि मेरा माल बिल्कुल सुरक्षित है - ऐसे ही ज्ञानी ज्ञान में होनेवाले ज्ञेयों के यद्वा-तद्वा विचित्र आकारों व उनके परिणमन से घबराता नहीं, किन्तु उन्हें ज्ञान की लीला मात्र

जानकर हर्षित होता है। वह ऐसा जानता है कि 'मेरा ज्ञान तो फायर प्रूफ' 'ज्ञेय प्रूफ' है, मेरे इस ज्ञान में ज्ञेयों की परछाई व ज्ञेयाकारों का प्रवेश ही निषिद्ध है।

(92)

सृष्टि का हर कण दिगंबर है

अनादि अकृत्रिम यह सृष्टि अनंतानंत जड़–चेतन द्रव्यों की अकृत नगरी है। सभी द्रव्य अपने–अपने सदनों में क्रीड़ा करते रहते हैं। वहाँ एक दूसरे के अतिक्रमण का अवकाश ही नहीं, क्योंकि सबका अपना–अपना साम्राज्य है। वे सब अपने द्रव्यों के अधिकारी हैं, न ही किसी से कोई आदान–प्रदान और न ही कोई अतिक्रमण। 'अरे! जैन दर्शन ही नहीं बल्कि सृष्टि का हर कण नग्न दिगंबर है', उस पर कोई चोला व आवरण नहीं – ऐसा अलौकिक जैनदर्शन है।

इस चित्र–विचित्र विश्व के संबंध में एक उभरता प्रश्न सभी के मन में खलबली पैदा किया करता है कि इन पदार्थों को बनाने वाला कौन है? इसका शाश्वत समाधान जैनदर्शन के पास ही है क्योंकि इस दर्शन में जितने भी वीतरागी, सर्वज्ञ, परमात्मा हुए उन्होंने अपने केवलज्ञान के चक्षु से इस सृष्टि की वस्तुव्यवस्था को प्रत्यक्ष देखा है, अतः उन्होंने सत्य ज्ञान द्वारा बताया कि यह सृष्टि और इसके जड़ चेतन समस्त पदार्थ अनादि–अनंत, स्वयंभू है और सदा रहेंगे इनकी अपनी–अपनी सीमायें (चतुष्टय) सील्ड है, इस छह द्रव्यों की नगरी में वे अपना कार्य वस्तु में अन्तर्गर्भित अनंत शक्तियों के बल पर प्रतिसमय निरपेक्ष भाव में किया करते हैं, अपने अस्तित्व का विलय करके वे अन्य द्रव्य की शक्ति व गुणपर्यायरूप परिणमन नहीं करते

क्योंकि सभी के पास अपनी-अपनी शक्तिसंपदा है, उसका भोग वही करे, वह किसी दूसरे के सामने झोली क्यों फैलाये, यह तो भिक्षा वृत्ति है, यदि जड़-चेतन एक-दूसरे पदार्थ में यह आदान-प्रदान का कार्य शुरू हो जाये तो यह भिक्षावृत्ति विश्व का महान दण्डनीय अपराध है और इस वस्तु की व्यवस्था को भंग करने का फल नर्क, निगोद है।

जैनदर्शन तो मुक्ति स्वावलंबन को कहता है, हर पदार्थ अपने स्वालंबन पर खड़ा है पर से असहाय व स्व से सहाय है क्योंकि परावलंबन या पर से कुछ लेने की आशा में तो हर क्षण आकुलता का ही संचेतन होगा, क्योंकि एक माँगे, और दूसरा उसे दे, यह पूरी पराधीनता है, और जड़द्रव्य चेतन को क्या देगा ? उसके पास तो जड़ शक्तियाँ हैं और चेतन जड़ को क्या दे, उसके पास तो ज्ञान, आनंद, चेतन शक्तियाँ हैं, इस अरस-परस देने-लेने की व्यवस्था से यह अति सुन्दर व्यवस्था है, कि हर पदार्थ अकेला है और वह अकेला ही अपने स्वरस में परिणमन करे, प्रत्येक पदार्थ की सर्वदर्शी एवं सार्वकालिक कार्य प्रणाली तो एक ही है कि वह प्रतिक्षण कार्य का उत्पाद स्वयं की शक्ति से स्वयं के लिए ही करता है, अन्य के लिए नहीं। कुदरत की भी यही व्यवस्था मान्य होगी, किंचित् भी यदि अपनी सीमा को लांघने का यत्न किया, तो सारी सृष्टि चिल्ला उठेगी पदार्थों में बलात् प्रवेश की चेष्टा मत करो, अपनी मान-मर्यादा में रहो। हम देखते हैं कि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की यदि एक इंच भूमि ले ले, तो इसके फल में कारावास नहीं होगा, बल्कि महायुद्ध होगा। ''अतिक्रमण किया है तो जेल भेज दिये जाओगे।'

सचमुच ! जैनदर्शन कुदरती दर्शन है यह कहता है कि कण-कण

का अपना धर्म है, अणु–अणु परमेश्वर है और स्वयं यह अकृत्रिम भी है, उसे किसी ने बनाया नहीं। उन्हें अपना कार्य करने के लिए किसी की राह नहीं देखना पड़ता। अणु–अणु इतना आजाद है कि जब गति करने का समय आता है तो वह एक समय में नीचे निगोद से निकलकर सिद्धालय तक चौदह राजू गमन कर जाता है, इस परमाणु को कोई चैलेन्ज नहीं कर पाया। पदार्थ में अनन्त शक्तियाँ क्यों ? असंख्यात या लाख हजार ही हो जाती, इसका भी एक सबल हेतु यह है कि पदार्थ में हमें कार्य अनेक प्रकार के देखने को मिलते हैं, एक ही समय में एक ही पदार्थ में विचित्र–विचित्र परिणमन होते रहते हैं। जैसे आम नामक फल है, उसमें एक ही समय में पीलापन हरापन, भारीपन, मीठापन, कोमलता, चिकनापन आदि अवस्था, प्रत्यक्ष देखी जाती है, यदि पदार्थ में ऐसी शक्तियाँ न हों तो यह भिन्न–भिन्न अवस्थाएँ नहीं।

पदार्थ के इस परिवर्तन अथवा परिणमन में एक ही समय में पूर्व पर्याय का विनाश होकर नई पर्याय का जन्म होता है; उसी समय द्रव्य तथा गुण ज्यों के त्यों रहते हैं, जैसे मिट्टी द्वारा घट बनाया जाता है घट की इस प्रक्रिया में मिट्टी को अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है, किन्तु उसकी स्पर्श, गंध, वर्ण आदि शक्तियाँ ज्यों की त्यों रहती हैं, वस्तु की इस द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप व्यवस्था को मनीषी, पदार्थ का उत्पाद, व्यय–ध्रौव्य स्वभाव कहते हैं इस तरह हर पदार्थ अपनी अनादि–अनंत सुनिश्चित जीवन यात्रा पर गतिमान है, इस यात्रा में सदा ही पदार्थों का परस्पर संयोग व वियोग होता रहता है जैसे मार्ग में पथिकों का संयोग हो जाता है, और वियोग भी।

अरे! जगत की हर वस्तु अपने गुणों, स्वभाव व विशेषता में ही वर्तन करती है, वह उसमें से निकल कर दूसरे पदार्थ के गुण धर्म स्वभावरूप परिणमन नहीं करती, वह अपने एकत्व को नहीं छोड़ती क्योंकि उसे अपना जीवन बिताने के लिए सारी भोग सामग्री उसके पास है जैसे एक आदमी के पास अपने जीवन निर्वाह के लिए अपने घरमें अनेक साधन व प्रसाधन होते हैं और वह उनके भोग में सदा तल्लीन रहता है, ऐसी व्यवस्थित व्यवस्था हर द्रव्य की है, उनके आगे No Admission का बोर्ड लगा है, उनके दरवाजे पर काली हंडी लगी है, जिससे इस बदनियत चेतन की नजर उनको न लग जाये, क्योंकि यह ज्ञान वाला सर्वश्रेष्ठ तत्त्व होकर भी दूसरे की ओर कुछ चाह से, सुख की आशा से झांकता रहता है, लेकिन कुदरत की कोर्ट में इसकी सुनवायी नहीं होती। अरे! सहारा तो वह लेता है जो स्वयं कमजोर हो, लेकिन सभी परिपूर्ण शक्तिवान है। अनादिकाल से परपदार्थों के प्रति ही आत्मा का आकर्षण रहा, पर की माँग रही, वह जड़ से अपने सुख के लिए कुछ चाहता है, लेकिन जब इसकी माँग पूरी नहीं होती, तो इसका बड़ा अपमान होता है, प्रत्येक पदार्थ का संदेश है कि हमें स्वतंत्र उन्मुक्त होकर विचरने दो, हे चेतन तू उन्हें खुली हवा में सांस लेने दो, अणु-अणु की स्वाधीनता को रोको मत। लोक में जितने भी पदार्थ में परिणाम हो रहे हैं, उनको मैं जानूँ, यह उनमें कुछ अदल-बदल करूँ, ऐसे तीव्र कर्त्तृत्व से आक्रांत रहता है, उन्हें तो जानने की भी जरूरत नहीं क्योंकि वे तो इसके जाने बिना भी स्वयं परिणमन कर रहे हैं, यह नहीं जानेगा तो भी वह कार्य तो होने ही वाले हैं, अतः इसके जानने व करने की निरर्थकता सिद्ध होती है। जानने के प्रति उत्साह नहीं रखना, जानने की जिद नहीं

करना और जानने में आ जाये तो इन्कार नहीं करना। एक कवि ने कण की सामर्थ्य व प्रशंसा में कुछ पंक्तियाँ लिखीं–

सच है कण का पार न पाया,
बन बिगड़े अनंत संसार।
किन्तु यह न समझना रे मानव,
मेरी लघुता है जीवन की हार।।

यह उस कण का गौरव है, उसकी शक्ति से संसार बनते रहे बिगड़ते रहे, लेकिन फिर भी उस छोटे से कण को कोई हरा नहीं पाया। ऐसे ही हर सत्ता अनंत शक्तिवान है सर्वशक्तिमान नहीं। युक्ति से सोचें तो छह द्रव्य में यदि एक के पास अनंत शक्ति है तो दूसरे के पास, कम क्यों? एक अपूर्ण व दूसरा पूर्ण क्यों? कुदरत में ऐसा पक्षपात क्यों होगा, यह दर्शन तो बेलिहाज दर्शन है, कुदरत ने सबको समान अधिकार सौंपे हैं क्योंकि हर परमाणु इस देश का स्वतंत्र नागरिक है और चेतन भी इसलिए उसे भी कुदरत के विधान, संविधान पर चलना होगा। जैसे भारत देश पर संविधान लागू किये जाते हैं–उनका पालन करना, भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है, यदि उनकी अवज्ञा करता है या उनके कानून का उल्लंघन करता है, तो वह सजा का पात्र होता है।

ऐसे ही इस षट्द्रव्यमयी लोक में छह ऋषि की तरह छह द्रव्य अपनी–अपनी गुफा में मौन भाव से ध्यान कर रहे हैं, उनका परिणमन एक प्रवाह चक्र में चल रहा है, यदि कोई उसके अविराम चलते इस चक्र में अपना हाथ डालने की कोशिश करता है तो उसका हाथ कट जायेगा लेकिन वह चक्र रुकेगा नहीं। अरे! अणु भी बोल उठेगा, उसका मौन संदेश है कि मेरे वैभव को तुम छेड़ना मत, नहीं तो मारे

जाओगे। कुदरत की सुन्दर व रमणीय व्यवस्था के संबंध में काव्य में कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं –

1. अणु को भी अवकाश नहीं है, अपने अपने काम से।
सभी सदा सम्राट अकेले, अपने अपने धाम के।
अपना काम सदा करने की, अणु में भी बल शक्ति है।
नहीं प्रतीक्षा पर की करता, उसके कुल की रीति है।
स्वयं शक्तिमय को न अपेक्षा, पर से बल आदान की।
जिससे तड़क-तड़क गिर पड़ती कर्मों की संतान भी।

2. है स्वभाव यह सहज वस्तु का सदा अकेला एक है।
यह ही उसकी सुन्दरता है, वह पर से निरपेक्ष है।
सदा अरे अपने गुण-पर्यायों में खुलकर खेलता।
किन्तु एक की कृतियों का फल नहीं दूसरा झेलता।
झूठ कहानी अरे परस्पर, सुख-दुःख बाधा दान की,
जिससे तड़क-तड़क गिर पड़ती कर्मों की संतान भी।

सचमुच! जैन दर्शन वस्तु के ठोस धरातल पर ही खड़ा है।

(93)

मुमुक्षुओं को मंगल प्रेरणा

(एक किंवदन्ती द्वारा)

भारतवर्ष में 'मण्डन मिश्र' नामक बहुत बड़े दार्शनिक विद्वान हुए हैं, एक बार विद्वान शंकराचार्य, शास्त्रार्थ के लिए उनके नगर में पहुँचे, वहाँ मण्डन मिश्र का घर ढूंढ़ते हुए उन्होंने गाँव के बाहर पनघट की पनिहारियों से पूछा कि 'मण्डन मिश्र' का घर कौनसा है? तब वह संस्कृत में यह जवाब देती हैं –

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं, कीरांगना यत्र गिरन्ति तत्र,
द्वारस्थ नीडांतर सन्निबद्धा, जानीहि तां मंडनं मिश्रधामः।।

अरे! जिसके दरवाजे पर पिंजरे में झूलते हुए तोता और मैना यह चर्चा कर रहे हों कि प्रमाण ज्ञान स्वतः होता है या परतः? ऐसी चर्चा जहाँ चल रही हो, उसे ही मण्डन मिश्र का घर जानना, जब-जब भी उस गाँव में कोई भी व्यक्ति जाकर पूछता था, तो उसे ऐसा ही उत्तर मिला करता था, ऐसे ही जिसके घर में दिन और रात, तोता-मैना जैसी शुद्धात्मा की मधुर चर्चायें चलती हों, उसे मुमुक्षु का घर समझना।

(94)

परिणाम हमारे दर्पण हैं

मुमुक्षु - **प्रश्न :** पूज्य बाबूजी! हम तो मुमुक्षु हैं और प्रतिदिन शुद्ध तत्त्वज्ञान की चर्चा भी सुनते हैं, अपनी चर्चा प्रिय भी लगती है, लेकिन हम अपने परिणामों की पहचान कैसे करें?

समाधान : सचमुच तो यह सिर्फ मुमुक्षु की ही नहीं सभी की समस्या है। अच्छा बताओ! जब आप भोजन करते हैं, तो कितना पेट भरा या और भरना बाकी है यह हम दूसरों से पूछकर बताते हैं या अपने पेट की तरफ देखकर स्वयं ही निर्णय करते हैं, अपने अनुभव से बोलते हैं, ठीक ऐसे ही क्योंकि हमारे पास ज्ञान है और उस ज्ञान में यह पता लग जाता है कि हमारे परिणाम कौन सी डिग्री पर चल रहे हैं? किस जाति के हैं और उनमें तीव्रता-मंदता का क्या अनुपात है? अज्ञानी का ज्ञान भी इतनी ताकत वाला है। उसकी स्वच्छता में

यह निर्णीत हो जाता है कि तत्त्व अभ्यास से मेरे इस मिथ्यात्व में कितनी शिथिलता आई है, अब देहादि, परद्रव्य मुझे अपने लगते हैं या नहीं? चिंतन में एक मात्र स्वसत्ता का ही वर्चस्व होता है, वास्तव में देखे तो सारे परिणाम की डोर स्वयं के हाथ में है, दूसरा क्या बतायेगा?

अरे! मुझे कब सम्यग्दर्शन होने वाला है मेरी मुक्ति कब होगी, यह सारी जाँच हमारे परिणाम के दर्पण में हो जाती है और ये परिणाम सिर्फ वर्तमान के नहीं बल्कि हमारे भूत-भविष्य के ऐसे दर्पण हैं, जिसमें स्वयं अपना चेहरा देख लो।

एक कवि ने कहा है कि -

पानी कब बरसे, ज्योतिष पर निर्भर न रहो,
घन की घनता से, 'पवि' (बिजली) की कड़कन से पूछो।

इस तरह परिणाम की हिसाब-किताब यह डायरी स्वयं के पास है, दूसरे के पास नहीं।

(95)

धर्म कार्य में छुपा प्रलोभन

पूजा मंडल विधान आदि कोई भी धार्मिक कार्य करते समय हमारे साथ एक प्रलोभन रहता है कि परलोक में हमे स्वर्ग की विभूति मिलेगी। ऐसा करने एवं कहने में हम शास्त्रों की दुहाई देते हैं। यदि शास्त्रों में किसी ने यह लिख दिया होता कि ये सब व्यर्थ की क्रियायें है। इनसे कोई लाभ नहीं, तो हम कभी भी भगवान की पूजा करते। हम तो सत्य भी इसीलिए बोलते हैं कि उससे स्वर्ग मिलता

है एवं लोग प्रशंसा करते हैं चोरी इसलिए नहीं करते कि उससे दंड मिलता है। यदि दंड आदि की व्यवस्था एवं नरक आदि का भय न होता, तो हम ये शुभ भाव कभी नहीं करते। तो वास्तव में प्रत्येक अच्छी क्रिया करने में हमारा हृदय एवं अंतरात्मा काम नहीं करता किन्तु काम करता रहता है एक प्रलोभन में जिससे वैभव की चकाचौंध का दृश्य सदैव हमारे सामने रहता है। यदि किसी प्रलोभन को सामने न रखकर मात्र अपने कर्तव्य प्रति पालन के हेतु हम कार्य करें, चाहे फिर उसमें कितनी ही आपत्तियाँ उठानी पड़े, तो स्वर्गादिक का क्षण-भंगुर वैभव तो क्या वस्तु है मोक्ष का शाश्वत् सुख भी मिल सकता है। कर्तव्य पर दृढ़ रहना हमारा काम है फल की वांछा करना हमारा काम नहीं।

(96)

भूख से अधिक ग्रहण हिंसा भी है और चोरी भी

जीवन की आवश्यकता से अधिक ग्रहण ही हिंसा है, झूठ है, चोरी है। यदि भूख मिटाने के लिए चार रोटी की आवश्यकता है तो पाँचवीं रोटी लेना हिंसा है क्योंकि उससे हमारा अनिष्ट होता है, झूठ इसलिए है कि उसका ग्रहण असत्य किया है चोरी इसलिए है कि पाँचवी रोटी पर हमारा कोई अधिकार नहीं है वह किसी दूसरे के हिस्से की वस्तु है।

पूँजीपति की पाप वृत्ति

पूँजीपति की जब तक यह मान्यता है कि धनादि सामग्री पुण्य से मिलती है तब तक शोषण की वृत्ति समाप्त नहीं हो सकती और न ही आवश्यकता से अधिक पूंजी का सार्वजनिक हित में-व्यय हो सकता

है क्योंकि धनवान हुआ है वह अपने पुण्य से हुआ है और निर्धन पाप से। वह मान में मत्त होकर मानता है कि पापी को अपने पाप का फल भोगना चाहिये अतः पुण्यवान उसकी सहायता में अपनी पुण्य से प्राप्त पूंजी का अपव्यय क्यों करे?

(97)

विषयासक्त की दुर्दशा

एक नदी में एक रीछ बहा जा रहा था, किनारे पर खड़े एक व्यक्ति ने उसे देखकर समझा कि कंबल बहा जा रहा है; अतः वह नदी में कूदकर उसमें पीछे वेगपूर्वक तैरता है और उसे पकड़ लेता है। फलतः रींछ उसे पंजे में फंसा लेता है। तब रींछ आगे-आगे बहता है और उसके पीछे-पीछे वह व्यक्ति। किनारे पर खड़े होकर लोग सोचते हैं कि पानी में भींगकर भारी हो जाने के कारण कंबल नहीं खिंचने पा रहा, अतः वे उस व्यक्ति को पुकार कर कहते हैं कि "भाई! यदि कंबल नहीं खिंचता, तो उसे छोड़ दो।" बहता हुआ व्यक्ति उत्तर देता है कि "भाई! मैंने तो कंबल को छोड़ रक्खा है, किन्तु कंबल मुझे नहीं छोड़ रहा।"

ठीक यही दशा विषयासक्त-मनुष्य की होती है, वह विषयों के पीछे भागता-भागता अंत में इतना विषयाधीन हो जाता है कि वह तो विषयों को छोड़ना चाहता है, किन्तु विषय उसे नहीं छोड़ते - ऐसी दुर्दशा होती है। संसार की वस्तुओं का हम अपने अनुकूल-परिणमन चाहते हैं। किन्तु उनका परिणमन हमारे आधीन नहीं है, स्वाधीन है, जब उनका परिणमन हमारे अनुकूल नहीं होता, तो हम दुःखी होते हैं और जब हम उनको अपने अनुकूल परिणमाने की इच्छा रखते हैं उस

समय अपनी परिणमन की योग्यता से उनमें परिणमन हो जाता है, तो हम सुख मानते हैं, गर्वित होते हैं वास्तव में यही मूल-भ्रांति है।'' यह वस्तु मेरी है, मेरे आधीन है, अतः मैं इसे अपने अनुकूल कर सकता हूँ''—इसप्रकार की जो द्रव्यदृष्टि में भूल है, वही अनादि-अनंत-संसार का कारण मोटा-पाप 'मिथ्यात्व' है।

(98)

क्रमबद्धपर्याय

क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में – 'जब आना होगा तब आयेगा' इस बात को समझ लेने पर वह व्यक्ति समस्त स्व-पर के विकल्पों का परित्याग करके स्वलक्ष्य सन्मुख होता है, क्योंकि अवस्था में 'जो होना होगा सो होगा' ऐसा निर्णय करने वाला व्यक्ति सर्व विश्व से उदासीन एवं निरपेक्ष होकर स्वद्रव्य के सन्मुख हो ही जाता है। फिर वह पर की ओर क्यों देखें, पर की अपेक्षा क्या करें। फिर तो वह द्रव्य-शक्ति का संबल लेकर स्वकार्य में प्रवृत्त हो जाता है।

सचमुच – क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में दृष्टि पर वस्तु और विकार से हटकर शुद्ध त्रैकालिक अकर्ता स्वभाव पर केन्द्रित हो जाती है। वह पर्याय के हेर-फेर के कर्तृत्व से सदा-सदा के लिए निर्भार व हल्का हो जाता है और आनंदमय जीवन व्यतीत करता है।

(९९)

आत्म सम्बोधन

'तत्त्वरसिक पारसमतिजी चतर, 'कोटा' को व्याधि के क्षणों में'
पूज्य बाबूजी 'युगलजी' कोटा द्वारा प्रेषित
संबोधन-पत्र

मैं पारस मति नहीं हूँ, मैं तो ज्ञान और आनन्द जैसे अनन्तानन्त गुण रत्नों से सुसज्जित परम शुद्ध एवं अविनश्वर चैतन्यरूप परम ब्रह्म परमात्मा हूँ।

ये सब जो कुछ मेरे से बाहर रोगादिक दिखाई देते हैं वे सब अचेतन देह में ही होते हैं, मेरे चैतन्य में बिल्कुल नहीं। मृत्यु जो होती है वह भी अचेतन देह की ही होती है, मेरी मृत्यु कभी नहीं होती, क्योंकि मैं तो ध्रुव हूँ। तथा जो ये दुःख, दर्द, पीड़ा, वेदना आदि के क्षणिक विकारी भाव मेरे में होते हुए दिखाई देते हैं, वे भी सब देहादिक पर पदार्थों की काल्पनिक मिथ्या ममता से नश्वर पर्याय में उत्पन्न होते हैं किन्तु मेरे देह रहित अविनाशी चैतन्य द्रव्य में ये नश्वर भाव कभी नहीं होते। यद्यपि पीड़ा, वेदना आदि के समस्त परभावों के प्रति अहं एवं ममत्व टूट जाने पर भी अपनी खाट के खटमलों एवं पेट के कीड़ों की तरह ये भाव फिर भी उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु विकारी एवं क्षणभंगुर होने के कारण ये मेरे नितान्त शुद्ध एवं चिरस्थाई आत्मतत्त्व से देहादि की तरह स्पष्ट ही पृथक्, विपरीत एवं विजातीय हैं अतः इनके प्रति मेरा आत्यन्तिक परत्व होने से ये मुझे निरन्तर परद्रव्य ही प्रतिभासित होते हैं। इसप्रकार 'मैं तो वास्तव में सम्पूर्ण ही विश्व से भिन्न, एकान्त शुद्ध एवं चिरंतन चिन्मात्र पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ', यह ज्ञानमय भाव मुझे धारावाहिक ही प्रवर्तित हो रहे हैं और यही भगवान वीतराग, सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा

ने देखा एवं कहा है कि 'ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।'

अतः ज्ञानमय भाव की पावन, वातानुकूलित, सुरम्य छत्रछाया में मैं तो प्रतिक्षण ही सभी प्रकार अत्यंत सुरक्षित, निश्चिंत एवं निर्भय हूँ और अपने शाश्वत आनन्द धाम, सर्व विवर्तन से रहित नित्य निर्विकार, अनन्तानन्त शक्तियों से अलंकृत, अतिशय मधुर एवं अपार मंगलमय चैतन्य सामान्य रूप चिन्मय तत्त्व से अविराम प्रतिबद्ध, उसी के साथ तद्रूप एवं एकाकार साक्षात् भगवान समयसार ही हूँ।

मैं आपके अन्तर और बाह्य स्थाई स्वास्थ्य एवं पूर्ण निराकुलता के लिए अपनी अगणित मंगल कामनाएँ समर्पित करता हूँ।

चैतन्य का स्मरण प्रतिक्षण ही करो रे!
भव के अनन्त दुख को पल में हरो रे!!
अक्षय अनंत निज सौख्य निधान पाओ!
गाओ अरे ! नित इसी के गीत गाओ !!

'युगल'

❀ ❀ ❀

(100)

ૐ નમઃ સિદ્ધેભ્યઃ

તીર્થંકરો જગતના જયવંત વર્તો,
ૐકારનાદ જિનનો જયવંત વર્તો,
જિનના સમવસરણ સહુ જયવંત વર્તો,
ને તીર્થ ચારે જગમાં જયવંતા વર્તો.
નમું હું તીર્થનાયકોને, નમું ૐકારનાદને,
ૐકાર સંઘ લોકોને, નમું તે કુંદકુંદને,
અહો ઉપકાર જિનવર નો, કુંદ નો ધ્વનિ દિવ્યનો
જિન કુંદ ધ્વનિ આપ્યા અહો તે ગુરુ કહાન નો.

મૈં તો એક માત્ર અવ્યાબાધ જ્ઞાન હી હૂં, અવિનશ્વર જ્ઞાન મય ચૈતન્ય હી હૂં. ધ્રુવ, ~~એવં~~ શુદ્ધ એવં શાશ્વત હૂં અતઃ અત્યંત નિર્ભય હૂં ઔર સદા આનંદ કા અમૃત પિયા કરતા હૂં. દેહાદિ ~~કા~~ સર્વ હી જડ઼ પદાર્થ મેરે સે અત્યંત ભિન્ન હોને કે કારણ ઉનકા પ્રત્યેક પરિણમન ઉનકી સીમા મેં હી હોતા હૈ, વે મેરા સ્પર્શ તક નહીં કરતે અતઃ મૈં અત્યંત નિશ્ચિંતતા સે સદૈવ હી આનંદિત હૂં. દેહાદિ કિંચિત ભી મેરે દુઃખ કે કારણ નહીં હૈં. ભ્રમ એવં અજ્ઞાન સે મૈં ઉનકે સાથ અનાદિ સે બંધા હૂં એવં મમત્વ કર બૈઠા હૂં. એકમાત્ર વહ મમત્વ હી સંપૂર્ણ દુઃખ કા કારણ હૈ. ~~મમત્વ~~ કૃત્રિમ મમત્વ કો તોડ઼ કર ફેંક દેને પર મૈં નિત્ય હી સિદ્ધોં કે સમાન ~~આનંદ કા~~ અપને ચૈતન્ય હ્રદ મેં સે આનંદ કા સુધા પાન કિયા કરતા હૂં.

'યુગલ'

समय. श्लोक १८५ - जिनके चित्त का चरित्र उदात्त है
(उज्ज्वल, उच्च) हैं ऐसे मोक्षार्थी जन इस सिद्धांत का सेवन
करो कि मैं तो सदा ही शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति हूँ,
और जो ये भिन्न लक्षण वाले विविध प्रकार के भाव प्रगट
होते हैं वे मैं नहीं हूँ, कारण कि वे सभी मेरे लिये परद्रव्य हैं.

मुमुक्षु सदन की चहल-पहल

1. जो श्रुतज्ञान की चोंच को चैतन्य की गगरी में डुबो-डुबोकर स्वभाव की बात सुनता हो और स्व स्वभाव की धरा पर बैठकर उसका अनुभव करता हो, उसे तुम 'मुमुक्षु' जानो।

2. जिसे अहमिन्द्रों के सुख टाटा की भट्टी जैसे लगते हों, वह 'मोक्षार्थी', आत्मार्थी, स्व अर्थी है।

3. जिसका एक ग्रास भी मुँह जाए तो आत्मा के लिए, शरीर के पोषण के लिए नहीं खाता हो, बल्कि चैतन्य की प्राप्ति के लिए खाता हो - ऐसा पुरुष 'मुमुक्षु' नाम धारण करने योग्य होता है।

4. 'मुमुक्षु' के पास पर्याय को देखने का समय नहीं है, मुमुक्षुता का पासपोर्ट उसी को मिलता है, जिसने पर्याय को सर्वथा विस्मृत कर उसे पाताल में भेज दिया है, द्रव्य दृष्टि के मंगल महोत्सव में यदि वह पर्याय को बारम्बार याद करता है, तो समझना ऐसे पर्याय दृष्टि वाले को संसार चक्र चलता ही रहने वाला है।

5. लोकेषणा, लोकरंजन, लोक संग, लोक भय, लोक लज्जा, जिसकी जिंदगी में सदा वर्जित रहते हों, बस! ये ही 'मुमुक्षुता' के सच्चे लक्षण हैं।

6. हे मुमुक्षुओ! तुम आत्मा, आत्मा शब्द रटते हो सुनते हो

पी क्यों नहीं लेते हो। अरे! यह तो भरा हुआ कलश है।

7. सारे ज्ञेयों को जानने की लिप्सा से जिसका मन थक गया हो और ज्ञायक से जिसका ज्ञान सट गया हो, वह मोक्ष का अर्थी 'मुमुक्षु' है।

8. इस 'मुमुक्षु' जगत के 'मुकुट मणि' तो एक मात्र पूज्य गुरुदेव ही हैं, उनके ज्ञान सिन्धु से प्रवाहित अध्यात्म के अमृत दान से संपूर्ण भारत में हजारों की संख्या में 'मुमुक्षु संस्थाओं' का स्थापन हुआ, साथ ही देश के कोने-कोने में शुद्धतत्त्वधारा का ऐसा उत्थान हुआ जैसा पूर्व में कई शताब्दियों में देखने को नहीं मिला। हमें विश्वास है कि भविष्य में भी यह तत्त्वज्ञान आकाशवाणी के संचार की तरह इतिहास के स्वर्ण क्षितिज पर धर्म की ध्वजा फहराता रहेगा।

9. पूज्य गुरुदेव ने देश के सभी मुमुक्षुओं को दिया है प्रशंसा-पत्र – "मुमुक्षु तो मोक्ष का अधिकारी है, उसको आत्मा के सिवाय कुछ भी रुचता नहीं। जो शुद्धात्मानुभूति लक्षण से लक्षित है, उसे मुमुक्षु कहते हैं तथा जो देह, लक्ष्मी, पत्नी, बंगला, गाड़ी, धन-वैभव का स्वामी हो, उसे धूलपति सेठ कहते हैं, समझ में आया...."

10. जो भव्य इन जिन वचनों को गारुड़ी मंत्र के समान सुनता हो, ऐसी मुमुक्षुता की पात्रता होती है।

11. 'मैं मुक्त हूँ' और मोक्ष तत्त्व मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है – एक छोटे बालक का भी यह नारा होता है और आठ

वर्ष में सम्यक्त्व लेकर वह 'मुमुक्षु' मोक्ष की पंक्ति में खड़ा हो जाता है।

12. आत्म-प्रशंसा से निश्चित आत्म पतन होता है, अतः हे 'मोक्षार्थी' तू इससे सदैव बचकर रहना।

13. देहार्थी व धनार्थी कभी 'मोक्ष का अर्थी' नहीं हो सकता।

14. मुमुक्षु तो वह है, जिसे बहुत ज्ञान का आग्रह न हो, लेकिन अपने अल्प व पैने श्रुतज्ञान से, देह व राग से भिन्न आत्मा का बोध करने को महा आतुरित रहता हो, क्योंकि अधिक ज्ञान की वांछा परिग्रह की ही पर्याय है।

15. मुमुक्षु वह नहीं है, जिसे अपने ज्ञान की अल्पता में दीनता महसूस हो और ज्ञान की बहुलता में उच्चता व बड़प्पन का अनुभव। अरे! मुमुक्षु तो वह है तो अपने प्राप्त ज्ञान को तीखी छैनी बनाकर राग व ज्ञान के बीच जो संधि है, उसमें निर्दयता पूर्वक डाल दे।

16. नरक तो नहीं, किन्तु जिसे सर्वार्थसिद्धि जाने का भी भाव नहीं होता, ऐसा जीव मोक्षार्थी कहलाता है और उसके पास मुक्ति दौड़ी-दौड़ी आती है।

17. सर्व कर्तृत्व का निषेध जिसके हर परिणाम में वर्तता हो, वह पात्र मुमुक्षु जानना।

18. जिसे आत्मा का ही एक मात्र प्रयोजन होता है और किसी भाग्योदय से यदि ज्ञानी गुरु उसे मिल जाए तो उनकी देशना को शिरोधार्य कर, उसे अपने श्रुतज्ञान में धारण कर, चैतन्य का धारावाहिक चिंतन प्रारंभ कर देता है तथा

किसी धन्य पल में उसकी उपलब्धि भी कर लेते है, हम भी उन्हें नमन करते हैं।

19. अरे! चारों ही गतियों के जीव जो संसार के दुख से मुक्ति चाहते हैं और आनन्द के कोष आत्मा की प्राप्ति के लिए जिनका मन मचल पड़ा है, वह सभी पुरुष हैं, मुमुक्षु हैं, सिद्धों से कम नहीं हैं।

20. मुमुक्षुता से घृणा करने का अर्थ सिद्धत्व से घृणा करना है 'मुमुक्षु' शब्द आते ही हृदय रोमांचित हो जाये, वीर्य उछल पड़े।

21. जिसके हृदय में ऐसे दर्द भरे वचन निकलते हों कि हे गुरुदेव! अब मुझसे यह दुख सहा नहीं जाता। अरे! वैभव के बीच ऐसा बोलता हो कि यह अंगारे मुझसे सहे नहीं जाते, मुझे तो आत्मा का शीतल सदन चाहिए, ऐसा एक 'मुमुक्षु' की वैरागी परिणति का फोटो होता है।

22. दुनियाँ में एक अनारकिष्ट मत है, जब भी उसका कोई सदस्य बनना चाहता है तो उसकी परीक्षा भी की जाती है, वह क्या? कि उसके हाथ में जलता हुआ अंगारा रखा जाता है, और यदि वह 'आह' कर देता है तो उसे अपने मत का सदस्य नहीं बनाया जाता।

देखो! ये लौकिक मत, लौकिक बातें भी इतनी कट्टर हो सकती हैं तो फिर चैतन्य लोक का वासी 'मुमुक्षु' से कहते हैं कि यदि तुम्हें सर्वज्ञ के मत का सदस्य बनना हो तो यह परीक्षा है कि तुम्हारें ऊपर घोर

विपत्ति या कोई बड़ा संकट भी आ जावे और तुम्हें प्रलय में भी बहना पड़े, लेकिन तुम सर्वज्ञ के मत अर्थात् उनके द्वारा बताये गये मोक्षमार्ग से कभी विचलित मत होना।

23. मुमुक्षु का हृदय बहुत सरल व दयालु होता है पाप की मोटी-मोटी गाँठे उसके पेट में नहीं होतीं, उसे उस जिंदगी से जरा प्रेम नहीं होता, बल्कि आत्मा स्वस्थ कैसे रहे, अतः वह स्वयं के गुण व अवगुण का विचार करता हुआ अविलंब ही उनके ग्रहण व त्याग के लिए तत्पर रहता है, जिसे गरीबी से ग्लानि व घृणा नहीं होती और अमीरी से प्यार व अनुराग नहीं होता, वह मुमुक्षु नाम पाता है।

24. विज्ञानघन चैतन्य ध्रुव सत्ता ही जिसकी दृष्टि का दृष्टेय होती है, क्षणिक शुद्धाशुद्ध परिणाम से जिसकी दृष्टि फिर गई है तथा परिणमन के चक्रव्यूह में जो फंसता नहीं, ऐसा होता है 'मोक्षार्थी' पुरुष!

25. 'मुक्ति मंडली' का अधिकारी 'मुमुक्षु' जिसे एक क्षण भी आत्मा का विरह बर्दाश्त नहीं होता वह कहता है अरे! मेरे भाग्य का उदय हुआ है, इस सारे लोक की संपत्ति से जिसे तोला नहीं जा सकता, ऐसे अनंत वैभव का स्वामी मैं हूँ।

26. जो सिद्धालय की ओर प्रयाण कर रहा है जिसका हर कदम उधर ही बढ़ रहा है एवं सिद्धों की बस्ती में शामिल होने वाला है, ऐसा पौरुष जिस जीव का उछल रहा है, उसे निकट भव्य मुमुक्षु जानो!

27. **प्रश्न** - मुमुक्षु की परिभाषा क्या है? **उत्तर** - जो चातक की तरह आत्मारूपी स्वाति की बूँद के लिए तरसता हो और मिलते ही छक जाये, तृप्त, तृप्त हो जाए, यह है मुमुक्षु की परिभाषा।

28. जो उदय व उदयभाव से सदा विरक्त और आत्मा में अनुरक्त है, समस्त कर्म प्रकृति के बीच रहता हुआ भी जो ऐसा अनुभव करता है कि कर्म प्रकृति की ये काली घटाएँ मुझे छूती तक नहीं, क्योंकि मैं तो प्रकृति के उस पार रहता हूँ - ऐसी निशंक मार्ग में चलने वाले मोक्षमार्गी की अनुभूति होती है।

30. अरे! जिसका यशोगान तीर्थंकर परमात्मा अपनी देशना में करते हैं कि हे आत्मन्! सचमुच तू संसारी नहीं हे मुमुक्षु! तू तो भगवत् तत्त्व है ज्ञान का अडोल सागर है, एक बार इसकी दृष्टि तो कर यह संसार मात्र कल्पना जन्य है।

31. 'मुक्ति की अभिलाषा' वाला तो एक ही 'उपास्य' का अवलंबन लेता है क्योंकि मुक्ति का मार्ग एकाकी ही रहा है, जहाँ किसी अन्य का सहारा न लेना पड़े, इसी का नाम तो मुक्ति है। बंधन तो निरी कल्पना मात्र है?

32. जिसे स्वर्गों की सुगंध नरकों की दुर्गंध जैसी लगे तो समझना वह मुमुक्षु कहलाने लायक है।

33. सारे विश्व में सबसे सुन्दर हूँ 'मैं'। मुझे विश्व सुन्दरी का अवार्ड मिला है, अनंत तीर्थंकरों से। ओहो! आत्मा की ऐसी ब्यूटी पर 'मोक्षार्थी' जीव सदा-सदा के लिए रीझ

जाता है, जिसकी सुन्दरता कभी बदसूरती में नहीं बदलती, देखो तो सही, उसके रूप को एक बार। देखते ही मुग्ध हो जाओगे, वहाँ से निकलने का कभी भी मन नहीं होगा। अरे! 'मैं इतना ब्यूटीफूल'।

34. मोक्ष के अभिलाषी को शुद्धात्मा की निष्ठा हो जाने से संपूर्ण, लोकालोक से दृष्टि सिमट गई है। उसे पर्याय का विकल्प भी आवे, तो सारा का सारा उपेक्षित भाव से। जैसे दूसरे के घर में घटने वाली घटना के प्रति हमारे मन में उपेक्षा होती है, ऐसे ही मोक्षार्थी इन सब पर्याय संबंधी विकल्पों को पार करता हुआ अपने श्रुतज्ञान को शुद्धात्मा पर ले जाता है।

35. जो मुक्ति के लिए कमर कसकर एक वीर रजपूत की तरह तैयार हुआ है, जिसे अपने अकारक अवेदक आत्मा के अनंत गुण रत्नों को देखने से फुर्सत नहीं मिलती। बस! सारा चिंतन, एक पर ही समर्पित हो दूसरे की ओर देखने व सुनने के लिए जिसके पास क्षण भर का अवकाश नहीं हो - ऐसा आत्मा का प्यासा 'मुमुक्षु' होता है।

36. 'परदव्वो दुग्गई' ऐसे आचार्यों के अनमोल वचनों को सुनकर जिसने संपूर्ण 'ज्ञेय जगत' से अपना मुँह फेर लिया है, अब उसकी ओर झांकना भी नहीं। अरे! उसका विकल्प तक न हो - एक मात्र 'स्व दव्वो' 'स्व द्रव्य' जो साक्षात् मुक्ति का कारण कहा उसी पर जिसकी दृष्टि टिक जाये, वह आत्मार्थी ही मुमुक्षु है और अरहंत व सिद्ध की श्रेणी में आने वाला है।

37. अरे! जिस घर में विसंवादिनी कथा चलती हो, उस घर के दरवाजे पर कुत्ता भौंकने लग जाता था, ऐसा पहले होता भी था क्योंकि वह भी यह सोचता है कि इस सभ्य मानव जाति में पशुता क्यों उतर आए। अरे कलह, विकथायें तो बहुत दूर, लेकिन हमारे जैन घरों में तो 'लोक में सर्व सुन्दर जो मेरा एकत्व' है, उसी की चर्चायें गूँजती रहना चाहिए, विसंवाद वाली वार्ताओं का वहाँ प्रवेश ही नहीं हो, ऐसा 'शांत, प्रशांत 'मुमुक्षु निकेतन' होता है।

38. श्रेष्ठ 'मुमुक्षु' कहला कर भी हम बाह्य परिवेश, क्रियाकांड, व्रत, शील, संयम में बुरी तरह उलझ जाते हैं या फिर आत्मा की शांति के लिए एकांत स्थान खोजते हैं, कोई कहते हैं सम्मेदशिखर, सोनागिर चले, कुछ बंधु सोनगढ़, देवलाली जाकर स्वाध्याय के लिए एकांत ढूँढ़ते हैं, किन्तु सच में एकान्त क्षेत्र परिवर्तन व काल परिवर्तन की पर्याय नहीं है, असंग आत्मा का संग ही सबसे बड़ा एकांतवास है, जिसे 'मुमुक्षु' जीव नरकों के भीषण, वायु-मण्डल में भी प्राप्त कर लेता है, वहाँ भी वह अपने स्वभाव में ध्यानस्थ हो जाता है, जिसे देख स्वर्ग भी लज्जित हो जाये।

इसी से संबंधित एक काव्य पूज्य बाबूजी द्वारा लिखा गया है -

"अच्छे मुमुक्षु कहते हैं देवलाली रहें,
प्रतिदिन जिन पूजन, दान वंदन करते रहें।
सूक्ष्म तत्त्व सुनें, करें चिंतन मनन ध्यान,
फिर भी मेरे बंधु, ध्रुव से अनजान।।"

39. 'मुमुक्षु' एक लड़ी में पिरोये हुए मोती की माला की तरह होते हैं, उनका हृदय एक-दूसरे को देखकर कमल सा खिल जाता है, उन्हें ऐसा लगता है मानो साक्षात् दोनों साथ-साथ मोक्ष की ओर बढ़ रहे हैं।

40. 'मोक्षार्थी' के हृदय में दो देवता ही सर्वोपरि स्थान पर होते हैं, तीसरे के लिए तनिक भी स्थान नहीं या तो 'अरहंत देवता' या फिर अपना 'चैतन्य देवता'।

41. अरे! स्वप्न व निद्रा में भी जिसको नग्न दिगंबर श्रमणों के दर्शन होते हों, वीतराग प्रतिमा झलकती हो और प्रचुर आत्म-चिंतन की उग्र दशा के समय स्वप्न में ऐसा भासन होता है कि आज मेरे सम्यक्त्व का मंगल प्रभात होने वाला है, ऐसी विचार दशा जिसकी हो जाती है, उसे ही आसन्न भव्य 'मुमुक्षु' जानना।

42. जैन होकर 'मुमुक्षु' होकर, भोजन के पूर्व क्या हमको ऐसा विचार आया कि अरे! आज मेरे आँगन में कल्पवृक्ष से उत्तम पात्र मुनिराज या श्रावक क्यों नहीं पधार रहे हैं, कितना अभागा हूँ मैं। क्या। अरे! श्मशान जैसा है मेरा यह घर।

43. जैन वह होता है, जिसे अपनी छोटी-छोटी भूल भी विवेक के प्रकाश में दिखाई देती है, इस प्रकाश में वह अपने दोषों को कांटे की तरह निकाल कर फैंक देता है, 'मुमुक्षुता' का नम्बर तो बाद में है।

44. चित्त भूमि को गन्दा करने वाले, पापाचार व अनाचार के

साधनों की भरमार व उनका उपयोग जहाँ होता है जैसे, टी.वी., सिनेमा, नाटक आदि-आदि, जिसे देखने से मन में विकार उत्पन्न होता है। दिन-रात वे अश्लील चित्र, गीत, जिसकी आँखों के सामने तैरते हों, टी.वी. तो आँखों से पी जाने वाली नशीली शराब ही है - ऐसे पाप से जिसका चित्त घिरा रहता हो अरे! यह तो मनुष्य के भी देखने लायक नहीं है, जो इनमें निरंतर व्यस्त रहता है, वह तो मनुष्य कहलाने लायक भी नहीं है, हमारे जैन बन्धु भी अन्य धर्मावलंबियों के रचित कल्पित नाटक देखते हैं, जिनका प्रजेन्टेशन फिल्मी भ्रष्ट पात्र करते हैं, वह भी राम-सीता के पात्र के रूप में। अरे! शर्म से मस्तक झुक जाना चाहिए उन्हें देख। एकांत गृहीत मिथ्यात्व का पोषण करते हैं हम। 'मुमुक्षु' की तो यहाँ बात ही नहीं, उसके योग्य विशुद्धि तो सर्वोच्च स्थान पर होती है।

45. सगे भाई से अधिक प्रेम 'मोक्ष के प्रेमी' का होता है। एक-दूसरे के प्रति कष्ट हुआ हो तो उसके आगे मन, वचन, काय से क्षमा माँगता हुआ, विनम्रता से झुक जाता है।

46. किसी तत्त्वाराधक जीव की विपदा, विषमता, व्याधि को देख यदि हमारा चित्त आद्र नहीं होता और बर्फ सा पिघल नहीं जाता तो समझना ऐसे नामधारी 'मुमुक्षु' को दिल्ली (मोक्ष) बहुत दूर है।

47. अहिंसाचार से जिसका जीवन महकता है, अभक्ष्य भक्षण, रात्रि भोजन, अनछने जल, जैसी हिंसक प्रवृत्तियों से सदा

दूर रहता हो, मरकर भी तत्त्व को प्राप्त करने का अभिलाषी हो, वह 'मुक्ति मण्डल' का सदस्य है।

48. मुमुक्षु का एक-एक क्षण रत्नों से भी अधिक कीमती होता है। एक क्षण भी विकथा में बरबाद नहीं होता, दुनियाँ के सारे काम ऊपर ही ऊपर चलते हैं और अन्तर में शुद्धात्मा की धारा बहती रहती है, अतः ऐसा वह जीव एक दिन अवश्य आत्मानुभूति प्राप्त कर आनंद की घूँटे पीने लगता है।

49. जैसे व्याधि से घिरा हुआ व्यक्ति डॉक्टर के पास जाकर सोता नहीं है, बल्कि ध्यान पूर्वक, चूक हुए बिना उसकी बात को सुनता है, ऐसे ही जो एकदम सजग होकर, चित्त को स्थिर करके, अत्यन्त प्रीति पूर्वक, उल्लसित भाव से, चातक की पिपासा की तरह, जिनवाणी सुनता हो और सुनते-सुनते ज्ञान इतना सूक्ष्म व पैना हो जाए कि अपने शुद्धात्म तत्त्व का स्पर्श कर ले, वहाँ वक्ता का अवंलबन भी छूट जाए क्योंकि यह भी परलक्षी ज्ञान है - ऐसे विशिष्ट लक्षणों का अधिष्ठाता मुमुक्षु होता है।

50. मात्र अपने चिदानंद आनंदघन स्वरूप की दृष्टि करने वाला जीव ही मुमुक्षु है।

51. व्यवहार का पक्षपाती कभी मुमुक्षुता के आँगन में नहीं आ सकता।

52. जिसका चिंतन ऐसा हो कि पैसे का ढेर और उसका आना-जाना यह सब पुद्गल के डिपार्टमेंट का काम है,

इतनी आजाद व स्वतंत्र हैं, इस पुद्गल की शक्तियाँ और इसे जहाँ ट्रान्सफर होना हो, वहाँ हो जाता है। अरे! इससे तो हमारे पुण्य-पाप का भी कोई संबंध नहीं है - ऐसा दृढ़ निर्णय जिसे हो गया हो, वह जीव मोक्षार्थी नाम पाता है।

53. अशुभ विकल्प तो दूर लेकिन शुभ के स्थान जैसे शिविर पंचकल्याणक, भक्ति-विधानादि के विकल्पों में भी जिसे ज्वाला का, जलन का, थकान का आभास हो तो समझना वह 'आत्मा का अभिलाषी' पुरुष है।

54. ज्ञान सर्वांग पवित्र व निर्मल तत्त्व है, प्रकाश की भाँति अलिप्त व अस्पर्शी रहता है, क्योंकि इस ज्ञान को कोई छू नहीं सकता तथा हमारी मिथ्या कल्पनाओं से गंदा भी नहीं होता, स्वयं की अज्ञानवृत्ति से भी वह अप्रभावित रहता है, फिर चिन्ता किसकी? अरे! ऐसा संचेतन करो कि 'मैं तो मात्र ज्ञान का अभेद किला हूँ', ज्ञान की इस एक अनुभूति में हम जैसे अनंत मुमुक्षु जीवों के मुक्ति के कपाट खुल गये और आगे भी इसी विधि से मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा मुमुक्षुओं को समर्पित

1. 'मुमुक्षु' को चैतन्य के प्रति अतिशय प्रेम होता है, राग के प्रति जरा भी प्रेम हो, लाभ होने की बुद्धि हो, उसको चैतन्य का प्रेम नहीं और उसे चैतन्य के प्रति भीतर से उल्लास भी नहीं आता। चैतन्य के साक्षात् अनुभव की तो बात ही क्या? वह तो पीछे रह जाती है।

2. 'मुमुक्षु' को आत्मा की भावना के अभ्यास की शिक्षा दी जाती है भावना के अभ्यास से मध्यस्थता होती है, तब मैं चित् चमत्कार मात्र हूँ, सिद्ध हूँ, अनंत शक्ति का धाम हूँ - ऐसा निज स्वरूप में अहं बुद्धि कर-करके चिंतवन करता है। आत्मस्वभाव की पहचान होने पर, आत्मध्यान व सम्यग्दर्शन होता है, आत्मा की पहचान व निर्णय के बिना ध्यान नहीं होता।

3. जिसके असंख्य प्रदेश चमक उठे कि वाह! आत्मा की कोई नयी बात मुझे सुनने को मिली पुण्य-पाप से भिन्न अनोखी बात! ऐसा अन्तर भाव का उल्लास लाकर उसमें तन्मयता करे वह मोक्षमार्गी है।

4. 'मुमुक्षुओं' को तो अपना परमात्म द्रव्य पूर्णानंद का नाथ ही उपादेय है आदरने योग्य है, शुभ राग को उपादेय मानेगा तो मिथ्यात्व पुष्ट करके निगोद चला जायेगा।

ऐसे सैंकड़ों जगह पूज्य गुरुदेव ने 'मुमुक्षु' शब्द की महिमा गाई है।

मुमुक्षुता का यशगान 'आगम के आलोक में'

– पूज्य बाबूजी द्वारा चयनित प्रमुख अंश

1. नियमसार गाथा 152 टीका – जिसने ऐहिक व्यापार (सांसारिक कार्य) छोड़ दिया है, ऐसा जो साक्षात् अपुनर्भव का (मोक्ष का) अभिलाषी 'महा मुमुक्षु' सकल इन्द्रिय व्यापार को छोड़ा होने से निश्चय प्रतिक्रमणादि सत्क्रिया को करता हुआ स्थित है (अर्थात् निरन्तर करता है)।

2. नियमसार गाथा 83 टीका (निश्चय प्रतिक्रमण अधिकार) – प्रतिदिन 'मुमुक्षुजनों' द्वारा उच्चारण किया जाने वाला जो वचनमय प्रतिक्रमण नामक समस्त पापक्षय के हेतुभूत सूत्रसमुदाय उसका यह निरास है (अर्थात् उसका इसमें निराकरण–खण्डन किया है)।

3. नियमसार गाथा 126 टीका – यहाँ परम माध्यस्थ भाव आदि में आरूढ़ होकर स्थित परम मुमुक्षु का स्वरूप कहा है।

4. प्रवचनसार गाथा 126 टीका तत्त्वप्रदीपिका (ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन, पैरा 3) – .....स्फटिक की भाँति जिसका पर के द्वारा आरोपित विकार रुक गया है, ऐसा होने से एकान्ततः 'मुमुक्षु' (केवल मोक्षार्थी) हूँ अभी भी (मुमुक्षु दशा में अर्थात् ज्ञान दशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है, अभी भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतंत्र हूँ।

5. प्रवचनसार गाथा 199 टीका (ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन) – सभी सामान्य चरम शरीरी, तीर्थंकर और अचरम शरीरी 'मुमुक्षु' इसी यथोक्त, शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्ति लक्षण-विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधि से सिद्ध हुए हों इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं।

6. नियमसार श्लोक 126 (परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार) – अर्थ – 'मुमुक्षु' ऐसे जिन्हें (मोक्षार्थी ऐसे जिन वीरनंदि मुनि को) सदा प्रतिक्रमण ही है और अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है, उन सकल संयमरूपी भूषण के धारण करने वाले श्री वीरनंदि नाम के मुनि को नित्य नमस्कार हो।

7. नियमसार गाथा 51-52 टीका (शुद्ध भाव अधिकार) प्रथम पैरा अन्तिम पंक्तियाँ – जो मुमुक्षु हैं, उन्हें भी उपचार से पदार्थ निर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्त्व-परिणाम के) अंतरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उन्हें दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।

8. नियमसार श्लोक 173 (परमालोचनाधिकार) – अर्थ – 'मुमुक्षु' जीव तीन लोक को जानने वाले निर्विकल्प शुद्ध तत्त्व को भलीभाँति जानकर उसकी सिद्धि के हेतु शुद्ध शील का (चारित्र का) आचरण करके सिद्धिरूपी स्त्री का स्वामी होता है, सिद्धि को प्राप्त होता है।

9. नियमसार श्लोक 165 (परमालोचनधिकार) – अर्थ – मुक्त जीव विभाव समूह को कदापि प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उसने उसके हेतुभूत सुकृत और दुष्कृत का नाश किया है, इसलिए अब मैं सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजाल को छोड़कर एक 'मुमुक्षु मार्ग' में जाता हूँ (अर्थात् मुमुक्षु जिस मार्ग पर चले हैं, उसी एक मार्ग पर चलता हूँ)

10. प्रवचनसार गाथा 6 टीका (ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन) – .... इसलिए 'मुमुक्षुओं को' इष्ट फल वाला होने से वीतराग चारित्र ग्रहण करने योग्य (उपादेय) है और अनिष्ट फल वाला होने से सराग-चारित्र त्यागने योग्य (हेय) है।

11. प्रवचनसार गाथा 84 टीका (ज्ञान तत्त्व प्रज्ञापन) टीका अन्तिम पंक्तियाँ – इसलिए 'मुमुक्षु जीव' को अनिष्ट कार्य करने वाले इस मोह, राग और द्वेष का यथावत् निर्मूल नाश हो, इस प्रकार क्षय करना चाहिए।

12. समयसार श्लोक 199 (सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार) – अर्थ – जो अज्ञान अंधकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्त्ता मानते हैं ('मुमुक्षुताम्' अपि) वे भले ही 'मोक्ष के इच्छुक' हों तथापि सामान्य जनों की भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती।

13. समयसार गाथा 272 टीका (बंध अधिकार) – आत्माश्रित निश्चयनय है, पराश्रित व्यवहारनय है, वहाँ पूर्वोक्त प्रकार से पराश्रित समस्त अध्यवसान बंध का कारण होने से 'मुमुक्षुओं' को उसका निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनय के

द्वारा वास्तव में व्यवहारनय का निषेध कराया है, क्योंकि व्यवहार नय के भी पराश्रितता समान ही है।

14. समयसार गाथा 17-18 टीका (पूर्वरंग) - मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए......।

15. नियमसार गाथा 40 टीका अन्तिम - त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसे निरंजन निज पंचम परम भाव की भावना से ही पंचम गति के 'मुमुक्षु' जाते हैं, जायेंगे और जाते थे।

16. नियमसार गाथा 82 टीका - ....भेद अभ्यास होने पर उसी में जो 'मुमुक्षु' संस्थित रहते हैं।

17. प्रवचनसार अन्तिम कलश 12 (ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन) - अर्थ - चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है इस प्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षा सहित हैं, इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर 'मुमुक्षु' (ज्ञानी, मुनि) मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

18. प्रवचनसार गाथा 82 (तत्त्व प्रदीपिका) - भविष्य काल में अथवा इस वर्तमान काल में अन्य 'मुमुक्षुओं' को भी इसी प्रकार उसका (मोक्षमार्ग) उपदेश देकर निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं।

19. नियमसार गाथा 147 टीका (निश्चय परमावश्यक अधिकार) - निश्चय सामायिक गुण उत्पन्न होने पर 'मुमुक्षु जीव' को बाह्य छह आवश्यक क्रियाओं से क्या उत्पन्न हुआ? अर्थात् अनुपादेय फल ऐसा अर्थ है।

20. नियमसार गाथा 125 टीका (परम समाधि अधिकार) – उस 'महा मुमुक्षु' परम वीतराग संयमी को वास्तव में सामायिक व्रत शाश्वत स्थाई है।

21. नियमसार श्लोक 265 – आत्मज्ञानी 'मुमुक्षु' जीव पशुजन कृत लौकिक भय को तथा घोर संसार की करने वाली प्रशस्त–अप्रशस्त वचन रचना को छोड़कर और कनक–कामिनी संबंधी मोह को तजकर मुक्ति के लिए स्वयं अपने में ही अविचल स्थिति को प्राप्त होते हैं।

❀ ❀ ❀

बाबू जुगलकिशोर जैन 'युगल'

जन्म : 5 अप्रेल, 1924
खुरी, जिला – कोटा (राज.)

देहपरिवर्तन : 30 सितम्बर, 2015

शिक्षा : एम.ए., साहित्यरत्न

पता : 85, चैतन्य विहार, आर्य समाज स्ट्रीट,
रामपुरा, कोटा (राज.) 324006

ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान बाबू जुगलकिशोर 'युगल' को प्रसिद्ध देव-शास्त्र-गुरु पूजा एवं सिद्ध पूजा लिखने के कारण समाज में वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दी साहित्य में 'उसने कहा था' कहानी के लेखक पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को। 'युगलजी' उच्चकोटि के कवि, लेखक एवं ओजस्वी वक्ता हैं।

15 वर्ष की अल्पवय में ही आप में काव्य-प्रसून अंकुरत होने लगे थे। तब राष्ट्रीय चेतना एवं स्वतंत्रता-संगाम का युग था। युग के प्रवाह में आपकी काव्यधारा राष्ट्रीय रचनाओं से प्रारम्भ हुई। पारम्परिक धार्मिक संस्कार तो आप में बचपन से ही थे, किन्तु उन्हें सम्यक् दिशा मिली इस युग में आध्यात्मिक क्रान्ति स्रष्टा श्री कानजीस्वामी से।

स्वयं श्री 'युगलजी' के शब्दों में – 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन एवं जीवनपथ मिला है।' युगलजी दर्शन को जीवन का समग्र स्वरूप मानते हैं और दर्शन की सर्वांग क्रियान्विति चैतन्य के साक्षात्कार में स्थापित करते हैं–

जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा
बाकी ने तो खींची रे ! परितप्त तटों पर रेखा

जनमानस में जैनदर्शन का साधारणीकरण आपके काव्य का मूल लक्ष्य है।

आप सफल गद्य एवं नाट्य-लेखक भी हैं। आपके साहित्य कोष से लोकोत्तर रचनाओं में काव्य संग्रह "चैतन्य वाटिका" एवं गद्यविद्या "चैतन्य विहार", "चैतन्य की चहल-पहल" (हिन्दी-अंग्रेजी) में साहित्य व अध्यात्म के समावेश से जैन जगत को नया आयाम मिला है।

आपके गहन चिन्तन से प्रसूत तात्त्विक चर्चायें एवं प्रवचन का बहुमूल्य संकलन – चर्चा चैतन्य की, जैन क्षितिज के उदित नक्षत्र, गुणावली सिद्धों की, सुरभित पाखुरियाँ आदि सरस नूतन प्रदेय हैं।

युगलजी अखिल भारतीय स्तर के प्रवचनकार हैं और उनकी उपस्थिति धार्मिक आयोजनों का महत्त्वपूर्ण आकर्षण मानी जाती है।